भारतीय समाज की संरचना

भारतीय समाज की संरचना

कक्षा 12 के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक

(तीसरा सेमेस्टर)

लेखक

अमित कुमार शर्मा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
मई 2003
वैशाख 1925
PD 30T MK

ISBN: 81-7450-128-2

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2003

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रॉनिकी, मशीनी,फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्लू.सी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग	हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज	डाकघर नवजीवन	निकट : धनकल बस स्टॉप
नई दिल्ली 110 016	बैंगलूर 560 085	अहमदाबाद 380 014	पनिहटी, कोलकाता 700 114

प्रकाशन सहयोग

संपादन मीरा कांत
उत्पादन कल्याण बैनर्जी
आवरण अमित श्रीवास्तव

रु. 25.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा शगुन ऑफसेट 132, मौहम्मदपुर नई दिल्ली 110 066 द्वारा मुद्रित।

आमुख

पाठ्यपुस्तक *भारतीय समाज की संरचना* कक्षा बारह के तीसरे सेमेस्टर के लिए तैयार की गई है। यह समाजशास्त्र के नए पाठ्यक्रम पर आधारित है जो कि *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2000* के आलोक में तैयार किया गया है। समाजशास्त्र एक ऐच्छिक विषय के रूप में पहली बार ग्यारहवीं कक्षा से शुरू किया गया है, हालांकि समाजशास्त्र के कुछ घटक समाज विज्ञान के पाठ्यक्रम में दसवीं कक्षा तक शामिल हैं।

इस स्तर पर दो वर्ष का यह पाठ्यक्रम चार सत्रों (सेमेस्टरों) में विभाजित किया गया है। प्रत्येक सत्र छह माह का है। प्रत्येक सत्र के लिए पृथक पाठ्यपुस्तक तैयार की गई है। इस प्रकार दो पुस्तकें ग्यारहवीं कक्षा तथा दो बारहवीं कक्षा के लिए हैं। जिन विद्यालयों में सेमेस्टर प्रणाली लागू नहीं है वहां दो सेमेस्टरों की पाठ्यपुस्तकों को एक वर्ष के वार्षिक सत्र के लिए लगाया जा सकता है। प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक *भारतीय समाज की संरचना* चार पुस्तकों की इस श्रृंखला में तीसरी पुस्तक है। इस श्रृंखला की चौथी पुस्तक *भारत में सामाजिक परिवर्तन* होगी। विद्यार्थियों के स्तर एवं आयु वर्ग को ध्यान में रखते हुए विषय-वस्तु को बहुत ही सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत किया गया है।

हमारी पहले की पुस्तकें *समाजशास्त्र परिचय* एवं *समाज का बोध* एक विषय के रूप में समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाओं, शोध पद्धतियों, समाज की संरचना और समाजशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विचारकों (भारतीय एवं विदेशी) के बारे में पहले ही बता चुकी हैं। इसी की निरंतरता में अब हम इस पुस्तक में भारत की सामाजिक संरचना के बारे में विचार-विमर्श करेंगे। प्रस्तुत पुस्तक में हम भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं - अनेकता में एकता, जाति, वर्ग एवं जनजाति की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भिन्नताएं, भारत में वंचित समूह, विभिन्न भारतीय संस्थाओं की जानकारी के साथ-साथ भारतीय समाज के अध्ययन के उपागमों का बहुत ही सुबोध एवं पारदर्शी भाषा में अध्ययन करेंगे। यह पुस्तक विद्यार्थियों को भारतीय समाज की विशिष्ट विशेषताओं को समझाने में सहायक सिद्ध होगी।

मैं लेखक, संपादक, विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के उन विषय विशेषज्ञों का आभारी हूं जिन्होंने पाठ्यपुस्तक की पांडुलिपि को लिखने एवं समीक्षा की प्रक्रिया में और इसे अंतिम रूप देने में अपना अमूल्य योगदान दिया है।

पुस्तक में परिवर्तन, संशोधन और परिमार्जन के लिए आपकी टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत है ताकि इस पुस्तक का आगामी संस्करण हम अधिक सार्थक एवं उपयोगी बना सकें।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

जनवरी 2003
नई दिल्ली

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।



पाठ्यपुस्तक समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

सच्चिदानंद
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र (सेवामुक्त)
पटना, बिहार

एम.एन.कर्ण
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
एन.ई.एच.यू., शिलौंग, मेघालय

बी.के. नागला
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय
रोहतक, हरियाणा

आभा अवस्थी
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ, उत्तर प्रदेश

एस.बी. सिंह
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर, उत्तर प्रदेश

जे.पी. सिंह
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
पटना विश्वविद्यालय पटना, बिहार

धर्मशिला प्रसाद
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
मगध महिला महाविद्यालय पटना, बिहार

रेनु रंजन
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
मगध महिला महाविद्यालय पटना, बिहार

जितेंद्र प्रसाद
प्रवाचक, समाजशास्त्र
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय
रोहतक, हरियाणा

वी.के. लाल
प्रवाचक, समाजशास्त्र
बी.एन. महाविद्यालय पटना, बिहार

के.एस. कश्यप
वरिष्ठ प्रवक्ता, समाजशास्त्र
बर्कतुल्लाह विश्वविद्यालय
भोपाल, मध्य प्रदेश

एस.एल. शर्मा
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर, राजस्थान

पी.सी. जैन
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर, राजस्थान

एस.के. मिश्रा
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर, राजस्थान

निर्मला चौधरी
पी.जी.टी., समाजशास्त्र
ने.आ.उ.मा. विद्यालय
कांतिनगर एक्सटेंशन, दिल्ली

सुधा कालरा
पी.जी.टी., समाजशास्त्र
रा.क.उ.मा. विद्यालय, लक्ष्मीनगर, दिल्ली

किरन शर्मा
पी.जी.टी., समाजशास्त्र
रा.उ.मा. विद्यालय
राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली

ए. एम. आमिर अंसारी
पी.जी.टी., समाजशास्त्र
स्व.भा.मि.उ.मा. विद्यालय, शिवाजी मार्ग
नई दिल्ली

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग

सारिका चंद्रवंशी
प्रवक्ता

मंजु भट्ट **(समन्वयक)**
प्रवाचक

विषय-क्रम

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे; और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके।

अध्याय 1

अनेकता में एकता

भूमिका

भारतीय समाज एवं संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता इसके विभिन्न पक्षों के बीच अनेकता में एकता है और यही भारत की निजी पहचान है । भारत देश एक विशाल उप-महादेश है जिसमें सदियों से समन्वय की प्रक्रिया चलती रही है। उत्तर से दक्षिण तक, पूरब से पश्चिम तक विभिन्न पृष्ठभूमियों के लोग आपस में घुलते-मिलते रहे हैं। उनकी संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान होता रहा है। भारत के अंतर्गत जितनी सांस्कृतिक विविधता रही है वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इस अनेकता के बावजूद भारत में एकता रही है। भारतीय एकता का मूल स्वर इसके विभिन्न पक्षों की विविधताओं से संवर्धित होता रहा है।

धर्म, भाषा एवं रीति-रिवाजों की विविधता के अंतर्गत इस विशाल देश में एक अद्‌भुत एकता रही है। प्राचीन काल से ही भारत में एकता के सूत्र एवं विचार देखने को मिलते हैं। भारतीय एकता का स्वरूप मूलत: सांस्कृतिक एवं भौगोलिक रहा है। इस एकता का संवर्धन मध्यकाल एवं आधुनिक काल में भी होता रहा। अंग्रेज़ी राज के दौरान भारत में प्रशासनिक एकता पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया परंतु स्वाधीनता आंदोलन ने सांस्कृतिक एकता के सूत्रों का संरक्षण एवं संवर्धन किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात एक राष्ट्र के रूप में भारत में एकता के सूत्रों एवं तत्त्वों का युगानुकूलन किया गया।

भारत में अनेकता और एकता के आयाम ऐतिहासिक रूप से पुनर्परिभाषित होते रहे हैं परंतु एकता में निरंतरता हमेशा कायम रही है। राजनीतिक उठा-पटक एवं ऐतिहासिक परिवर्तन की शृंखलाओं के बीच इस देश की एकता का निरंतर बने रहना भारत की मौलिक विशेषता है। विद्‌वानों ने इसे भारत की एक आश्चर्यजनक उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया है।

भारत के हर क्षेत्र एवं सामाजिक जीवन के विविध आयामों के बीच अनेकता में एकता देखी जा सकती है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक, पश्चिम में कच्छ से लेकर पूरब में अरुणाचल तक भारतीय लोगों के बीच अनेकता और एकता दोनों पाई जाती हैं। अनेकता और एकता के बीच समन्वय स्थापित करने में भारतीय लोगों का सांस्कृतिक अनुभव ऐतिहासिक रूप से बहुत गहरा है। भारत में यह मान्यता रही है कि सत्य एक है परंतु हर व्यक्ति अपनी समझ, परिस्थिति एवं मान्यता के आधार पर उसकी अलग-अलग व्याख्या करता है। यह भी माना जाता है कि सत्य तक पहुंचने के कई रास्ते हैं। फलस्वरूप भारत में एकता के लिए एकरूपता को कभी आवश्यक नहीं माना गया। देश, काल और पात्र के आधार पर जीवन दृष्टियां एवं पद्‌धतियां फलती-फूलती एवं फैलती गईं। बाहरी तौर पर ये एक-दूसरे से भिन्न दिखती हैं, परंतु इनके बीच भीतरी तौर पर एकता के सूत्र मजबूत रहे हैं।

यूरोपीय समाजशास्त्र किसी समाज में एकता के सूत्र भाषाई राष्ट्रीयता या राजनीतिक संप्रभुता के आधार पर खोजता रहा है। अत: एकता का प्राथमिक आधार राष्ट्र की सदस्यता माना जाता है। परंतु कई भारतीय समाजशास्त्री इस मत से सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि भारत एवं दक्षिण एशिया में एकता का स्वरूप सभ्यतामूलक रहा है। इनका कहना है कि पूरे दक्षिण एशिया में एकता का स्वरूप सभ्यता के स्तर पर एकता है परंतु राष्ट्र के रूप में यह आज भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका और नेपाल के रूप में विभाजित है। परिवार, जाति, रीति-रिवाज एवं जीवन पद्धति जैसी सामाजिक संस्थाओं एवं परंपराओं के स्तर पर भारतीय उपमहाद्वीप एवं दक्षिण एशिया के विभिन्न समाजों एवं राष्ट्रों के बीच प्राचीन काल से मौलिक एकता रही है जो आज भी काफी हद तक कायम है।

पारंपरिक भारत में एकता का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत सांस्कृतिक संवाद, अंत:क्रिया एवं संचार रहा है। समाजशास्त्रियों ने भ्रमणशील साधु-संतों, व्यापारियों, कथा-वाचकों, शिल्पकारों, कारीगरों एवं अन्य कलाकारों जैसे कुम्हार, संगीतकार, नर्तक एवं नर्तकी की समन्वयकारी भूमिका को रेखांकित किया है। तीर्थाटन, मेले एवं सामाजिक-सांस्कृतिक त्योहारों जैसी संस्थाओं ने भी सांस्कृतिक एकता को बनाने-बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके अलावा सामाजिक संरचना एवं अर्थव्यवस्था को बनाने वालों ने भी विभिन्न क्षेत्रों, समूहों एवं सांस्कृतिक परंपराओं के बीच संवाद एवं समन्वय के सूत्र जोड़ने में भूमिका निभाई।

सात्मीकरण के बिना भी समायोजन भारतीय सभ्यता की सुपरिचित विशेषता रही है। समायोजन एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत समाज के विभिन्न तत्त्व बिना अपना अस्तित्व खोए एकताबद्ध किए जाते हैं। दूसरी ओर, सात्मीकरण, एकीकरण की ऐसी पद्धति है जिसमें समाज के विभिन्न तत्त्व अपने पुराने अस्तित्व या पहचान को भुलाकर नई सामाजिक पहचान में विलीन हो जाते हैं। भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में सात्मीकरण पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया गया है। भारत में नई पहचान पाने के लिए पुरानी पहचान मिटाना आवश्यक नहीं समझा जाता। अनेकता का समायोज़न भारतीय समाज एवं संस्कृति की स्थापित विचारधारा रही है। विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों ने इस एकतामूलक विचारधारा का संवर्धन किया है। भारतीय सभ्यता में स्थायित्व एवं व्यवस्था कायम रखने का काम राज्य की तुलना में सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं तकनीकी संस्थाओं एवं मूल्यों द्वारा होता रहा है। भारतीय सभ्यता में किसी भी तरीके से जीवन व्यापन करने की पर्याप्त स्वतंत्रता दी गई, परंतु विभिन्न पारंपरिक जीवन पद्धतियों को एक सामाजिक आदर्श के आधार पर श्रेणीबद्ध भी किया गया। फलस्वरूप भारत में एकता के साथ-साथ असमानता भी बनी रही।

अनेकता में एकता के कारक

भारत में अनेकता में एकता के निम्नलिखित कारकों की चर्चा की जा सकती है-

❑ भौगोलिक एवं जनसंख्यात्मक कारक

भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी भौगोलिक एवं जनसंख्यात्मक विशेषता है। भौगोलिक रूप से भारत एक अटूट इकाई है जो उत्तर से दक्षिण तक एवं पूरब से पश्चिम तक एक विस्तृत एवं स्वतंत्र भू-खंड के रूप में फैला हुआ है। यह ग्रेट ब्रिटेन से चौदह गुणा एवं पूरे ब्रिटिश द्वीप से दस गुणा बड़ा है। भारत में चिलचिलाती ठंड से तपती गर्मी तक की विविधता देखने को मिलती है। सम-शीतोष्ण, उष्ण-कटिबंधीय एवं ध्रुवीय तीनों प्रकार की जलवायु भारत में पाई

जाती हैं। शारीरिक बनावट एवं जनसंख्यात्मक पहलुओं में भी भारत में विस्मयकारी विविधता है। बनावट, त्वचा, आंख के रंग, ऊंचाई, सुंदरता एवं व्यक्तित्व की दृष्टि से भारतीय लोगों का वर्गीकरण करना बहुत मुश्किल है। भारतीय लोगों ने भारतीय भू-भाग के अंतर्गत भाषा, बातचीत, व्यवहार, रीति-रिवाज एवं मूल्यों, आदर्शों, संस्कारों एवं प्रतिमानों की दृष्टि से विविधता बनाए रखी है। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में फसलों एवं खाद्य पदार्थों की विशिष्ट किस्में उगाई जाती हैं। फलस्वरूप खान-पान से लेकर वस्त्र-विन्यास तक क्षेत्रीय विविधता बहुत ज़्यादा है। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में कला, शिल्प एवं तकनीकों का विकास भी एक जैसा नहीं है। भौगोलिक परिस्थितियों एवं जनसंख्यात्मक कारकों ने क्षेत्रीय संस्कृतियों के विकास में योगदान दिया है। भौतिक संस्कृतियों के विकास में तो भौगोलिक कारकों का योगदान है ही, रीति-रिवाज, पूजा-पद्धति एवं सामाजिक संस्थाओं के विकास पर भी भौगोलिक कारकों का प्रभाव देखा जा सकता है। इस तरह भौगोलिक कारकों को विविधता का प्रमुख स्रोत माना जा सकता है।

परंतु भूगोल एवं भौगोलिक कारकों ने भारत की एकता में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय एकता एवं भारतीयता की भावना को कायम रखने में भौगोलिक कारकों की भूमिका प्रभावशाली रही है। एक भू-भाग के रूप में भारत प्राकृतिक रूप से एक संपूर्ण इकाई रहा है। हिमालय जैसे दुर्गम पहाड़, प्रशांत महासागर एवं हिंद महासागर जैसे विशाल समुद्रों ने इसके चारों ओर एक शक्तिशाली सुरक्षा कवच बनाया हुआ है। इसकी सीमाएं तुलनात्मक रूप से बहुत सुरक्षित रही हैं। इसकी आबादी की अधिकांश भौतिक ज़रूरतों की पूर्ति इसकी उपजाऊ ज़मीन, खानों, नदियों, पहाड़ों एवं जलाशयों से हो जाती है। इसकी प्राकृतिक सीमा के भीतर इस देश को बांटने या इसकी सीमा का अतिक्रमण करने की राजनीतिक-सैनिक कोशिश असफल रही है।

इसके विस्तृत भू-भाग ने भारतीय लोगों के मानस को दो तरह से प्रभावित किया है। भू-दृश्य, जलवायु एवं जीवन की भौगोलिक परिस्थिति की विविधता ने भारतीय लोगों में अनेकता एवं भिन्नता को आसानी से स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति विकसित करने में मदद की है। दूसरी ओर, विस्तृत भू-भाग ने हर क्षेत्रीय संस्कृति को विघ्नरहित विकास एवं हर नए-पुराने समूहों में क्रम प्रतिस्पर्धा के साथ आंतरिक विकास के लिए भौगोलिक आधार प्रदान किया।

भौगोलिक एकता ने यहां के आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया है। देश के भौगोलिक आकार एवं ज़मीन की गुणवत्ता ने जनसंख्या एवं कृषियोग्य भूमि की क्रमिक वृद्धि एवं विकास को संभव बनाया। भारत में चार से पांच हज़ार वर्षों तक अनवरत कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का विकास एवं विस्तार हुआ है। भारतीय संस्कृति और कृषि पर निर्भर व्यक्तियों, परिवारों एवं समूहों में कुछ मौलिक समानताएं पाई जाती हैं। ये समानताएं आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तीनों स्तरों पर हैं। कुछ लोग भारत की विशालता एवं विविधता में भौगोलिक एकता देखना भूल जाते हैं। पूरे देश में पूजास्थलों, पवित्र स्थानों एवं ऐतिहासिक स्थलों के जाल द्वारा देश की एकता की स्थायी अभिव्यक्ति हुई है। विभिन्न धार्मिक समुदायों से जुड़े असंख्य पवित्र स्थलों, इमारतों एवं स्तूपों ने भौगोलिक एकता को सांस्कृतिक आयाम दिया है।

❑ धार्मिक कारक

भारत में बहुत से धर्मों को माना जाता है। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में सात धार्मिक समुदाय प्रमुख रूप से पाए गए हैं। इनमें हिंदू समुदाय के लोगों की संख्या सबसे ज़्यादा (लगभग 82 प्रतिशत) है।

मुस्लिम समुदाय की आबादी दूसरे नंबर (लगभग 12.12 प्रतिशत) पर है। ईसाई मत मानने वालों की आबादी तीसरे नंबर (लगभग 2.34 प्रतिशत) पर है। सिक्खों की आबादी चौथे नंबर (लगभग 1.94 प्रतिशत)पर है। बौद्ध 0.76 प्रतिशत, जैन 0.40 प्रतिशत तथा अन्य की आबादी, जिसमें यहूदी, पारसी एवं प्रकृतिपूजक जनजातियां शामिल हैं 0.44 प्रतिशत है। आबादी में कम होने पर भी भारत के धार्मिक जीवन में इनका योगदान किसी भी मामले में बड़े समुदायों से कम नहीं है।

भारतीय समाज में धर्म से एकता एवं विविधता दोनों आती हैं। करीब-करीब सभी प्रमुख धर्म आंतरिक रूप से विभाजित हैं। जाति या जाति सदृश्य समूह हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख एवं ईसाई सभी समुदायों में पाए जाते हैं। यदि समाज में केवल एक ही धार्मिक समुदाय के लोग हों तो धर्म की भूमिका काफी समन्वयकारी होती है परंतु एक बहुधर्मी समाज में धर्म विवाद और संघर्ष का मुद्दा बन सकता है। पारंपरिक रूप से भारत में सभी धार्मिक समुदाय आपसी सद्भाव से रहते आए हैं। हाल के वर्षों में विभिन्न धर्मों एवं संप्रदायों के बीच सामुदायिक सद्भाव कुछ कम हुआ है।

किसी भी धर्म के सामान्यत: दो पक्ष होते हैं- आध्यात्मिक एवं लौकिक। सभी धर्मों के आध्यात्मिक पक्षों में बहुत समानता है। सभी धर्मों के अंतर्गत नैतिक आचरण का अनुसरण एवं स्वार्थों के अतिक्रमण को रोकने पर ज़ोर दिया जाता है। धर्म के इस पक्ष को व्यक्तिगत उपासना एवं आचरण का मामला माना जाता है। इसके विपरीत धर्म के लौकिक पक्ष का संबंध समूह की पहचान एवं संगठन की व्यवस्था से होता है। धार्मिक अनुष्ठानों एवं सामुदायिक विश्वासों के द्वारा सामाजिक व्यवस्था कायम रखी जाती है।

भारत में धार्मिक सद्भाव न सिर्फ प्रचुर मात्रा में रहा है बल्कि कुछ धार्मिक स्थलों का स्वरूप धीरे-धीरे सांप्रदायिक न रहकर सभी धर्मावलंबियों के लिए श्रद्धा एवं उपासना का लोकप्रिय माध्यम हो गया है। उसी तरह कुछ धार्मिक उत्सवों का एक खास समुदाय से उद्गम होने के बावजूद वे अधिकांश समुदायों द्वारा मनाए जाते हैं। वाराणसी, उज्जैन, मथुरा, बोध गया, अमृतसर, अजमेर शरीफ, तिरुपति एवं वैष्णोदेवी आदि ऐसे ही स्थान हैं। उदाहरणस्वरूप अजमेर शरीफ जैसे मुस्लिम धार्मिक स्थान में बहुत से हिंदू तीर्थयात्री भी अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं एवं बहुत सारे हिंदू तीर्थ स्थानों में अन्य धर्मावलंबी भी जाया करते हैं। इन धार्मिक स्थलों की अर्थव्यवस्था में अन्य धर्मावलंबी दुकानदारों एवं सेवा-टहल करने वालों की संख्या एवं भूमिका बहुत सराहनीय है।

भक्ति एवं उपासना के क्षेत्र में हिंदू संतों एवं मुस्लिम सूफी संतों के बीच बहुत समानता एवं साझेदारी रही है। दीपावली, दशहरा एवं होली जैसे त्योहारों एवं उत्सवों के दो पक्ष रहे हैं – धार्मिक एवं सांस्कृतिक। इन त्योहारों का धार्मिक पक्ष तो हिंदुओं तक सीमित रहता है, परंतु सांस्कृतिक रूप में इसे करीब-करीब सभी समुदायों द्वारा मनाया जाता है। इसी तरह क्रिसमस एवं ईद-उल-फ़ितर का धार्मिक पक्ष भले ही ईसाइयों एवं मुसलमानों तक सीमित हो, परंतु इनके सांस्कृतिक पक्ष में अन्य समुदायों की भागीदारी भी होती है। कबीर, अकबर, दारा शिकोह एवं महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों ने एक साझी विरासत एवं आपसी सद्भाव बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

फारसी सूफी परंपरा ने भारत में आकर नया स्वरूप ग्रहण किया। रामानंद एवं कबीर जैसे कवियों एवं धार्मिक उपदेशकों ने हिंदुओं और मुसलमानों की उत्कृष्ट बातों को सराहा और कुरीतियों पर समान रूप

से प्रहार किया। अवध तथा हैदराबाद के राजदरबारों में फारसी एवं राजपूताना की सांस्कृतिक परंपरा का समन्वय चित्रकला, काव्य, खान-पान एवं प्रेम आख्यानों में किया गया था। मुसलमानों ने हिंदू प्रभाव में जाति का तत्त्व ग्रहण किया तो मुस्लिम प्रभाव में हिंदू समाज ने पर्दा प्रथा को एक हद तक अपनाया।

इन समन्वयकारी भूमिकाओं के साथ-साथ धर्म का दुरुपयोग मतभेद एवं संघर्ष को पोषित करने में भी किया गया। इस देश का भारत एवं पाकिस्तान के रूप में बंटवारा मूलतः धार्मिक-सांप्रदायिक आधार पर ही किया गया था। देश के बंटवारे के बाद भी सांप्रदायिकता की समस्या जब-तब सिर उठाती रही है। सांप्रदायिकता, जो घृणा एवं हिंसा को जन्म देती है, धर्मांधता से जन्म लेती है। कट्टरवाद की प्रवृत्ति का जन्म तब होता है जब लोग धर्म की आत्मा को भूल कर धर्म के बाहरी स्वरूप और अंधविश्वास को असली धर्म समझने की भूल करने लगते हैं। यह प्रवृत्ति अज्ञान के साथ-साथ सोची-समझी शरारत की उपज है। सांप्रदायिक लोग राजनीतिक सत्ता और आर्थिक सुविधा पाने की अनाधिकार चेष्टा के तहत भोले-भाले धार्मिक लोगों की भावनाओं का शोषण सांप्रदायिक विभेद पैदा करने के लिए करते हैं।

❑ सांस्कृतिक कारक

भारतीय संस्कृति की कहानी सतत विकास, समन्वय और संतुलित समृद्धि का अनुपम उदाहरण है। धर्म की तरह संस्कृति भी एकता के साथ-साथ विविधता की कारक है। भारत की सांस्कृतिक एवं सामाजिक विविधता की रक्षा में शक्तिशाली साम्राज्यों एवं राज्यों की नीतियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मौर्य एवं गुप्त जैसे साम्राज्यों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक मामलों में समुदायों की स्वायत्तता एवं विविधता का आदर किया और राज्य शक्ति के दबाव में समरूपता स्थापित करने की कोशिश नहीं की। हालांकि मध्यकाल में भारत के अधिकांश भागों मे इस्लाम एक राजनीतिक प्रभुत्व संपन्न धर्म था, परंतु इसने हिंदू धर्म और इसकी संरचना को खत्म या गुणात्मक रूप से रूपांतरित करने की कोशिश नहीं की। हिंदुओं ने भी, जो इस देश में बहुत से मामलों में प्रभुत्वशाली रहे हैं, दूसरे समुदायों की संस्कृति, जीवन पद्धति, मूल्यों, प्रतिमानों एवं विश्वासों को दबाने या खत्म करने की कोशिश नहीं की। धीरे-धीरे विभिन्न समुदायों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान से एक साझी विरासत मज़बूत होती रही है, परंतु समुदायों ने अपनी स्वतंत्र सांस्कृतिक पहचान भी बनाए रखी है। भारतीय समाज अनगिनत जनजातियों, जातियों, उपजातियों, गोत्रों, पंथों, संप्रदायों, समूहों और समुदायों में बंटा हुआ है तथा इन सभी की अपनी जीवन शैली, जीवन आदर्श और सांस्कृतिक पहचान बनी हुई है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने विस्तार से विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में रह रहे भारतीय लोगों में पाए जाने वाले रीति-रिवाजों, आदतों, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं एवं प्रतिमानों को लिपिबद्ध किया है। भौतिक संस्कृति के तत्वों जैसे वेश-भूषा, भवन निर्माण एवं साज-सज्जा, कलाकारी, कारीगरी, शिल्प, खाद्य पदार्थों की उपज, निर्माण एवं खाद्य संस्कृति के अध्ययन करने पर भारत क्षेत्रीय विविधता का एक ज्वलंत उदाहरण नज़र आता है।

भारत में एकता स्थापित करने एवं उसे कायम रखने में यहां पाए जाने वाले धर्म, दर्शन, कला एवं साहित्य की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जाति एवं संयुक्त परिवार जैसी सामाजिक संस्थाएं भारत के प्रत्येक क्षेत्र एवं कोने में लगभग सभी समुदायों में पाई जाती हैं। बहुत सारे त्योहार पूरे देश के लगभग सभी समुदायों की भागीदारी से मनाए जाते हैं। इन त्योहारों की संरचना भी पूरे देश में लगभग एक जैसी होती है। मंदिरों

एवं राजमहलों का वास्तु शिल्प, इनसे जुड़ी कलाएं तथा सांस्कृतिक विन्यास भी पूरे देश में काफी हद तक एक जैसा होता है। इस सबसे एकत्व की भावना बढ़ती है। भारत में विभिन्न समुदायों के बीच मौलिक एकता होते हुए भी सांस्कृतिक विविधता को गौरवान्वित करने का पारंपरिक प्रचलन है।

❑ राजनीतिक कारक

सामान्य मान्यता है कि एक सभ्यता के रूप में भारत की निरंतरता मूल रूप से सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों द्वारा नियमित होती रही है और इसमें राज्य एवं राजनीतिक कारकों की भूमिका गौण रही है। यह भी कहा जाता है कि सामाजिक व्यवस्था एवं स्थायित्व कायम करने में राज्य की भूमिका की तुलना में सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं की भूमिका ज़्यादा महत्त्वपूर्ण रही है। इस देश की विशालता एवं इस देश में पाई जाने वाली अनगिनत प्रकार की विविधताएं, विषमताएं एवं अनेकता के कारण भारत में अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करना संभव नहीं हो पाया है। फलस्वरूप इस देश के प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास में अखिल भारतीय राजनीतिक एकता एक सामान्य विशेषता के रूप में दिखाई नहीं पड़ती।

परंतु संपूर्ण देश को एक केंद्रीय शासन के अंतर्गत लाने का विचार भारत के महान शासकों एवं राजनेताओं में सदैव रहा है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्राचीन भारत के नरेशों ने 'चक्रवर्ती' की अवधारणा प्रस्तुत की। चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त एवं हर्षवर्धन जैसे शासकों ने 'चक्रवर्ती' नरेश की अवधारणा को व्यवहार में लाने की कोशिश की। अकबर एवं जहांगीर जैसे कुछ मुस्लिम शासकों का सामाजिक-राजनीतिक योगदान भी राजनीतिक एकता की दृष्टि से सराहनीय था। अकबर की 'दीन-ए-इलाही' की अवधारणा एवं जहांगीर की न्यायप्रियता की चर्चा इस दृष्टि से की जा सकती है।

एक अर्थ में, भारत कभी भी एक संगठित राजनीतिक इकाई के रूप में एक राज्य सरकार के अधीन नहीं रहा। अंग्रेज़ी राज के अंतर्गत भी पूरे भारत का भौगोलिक-सांस्कृतिक क्षेत्र एक संगठित राजनीतिक इकाई नहीं था। अंग्रेज़ी राज सबसे शक्तिशाली इकाई अवश्य था पर उसी समय देश में करीब 600 देसी रियासतें भी थीं जो अधिकांश मामलों में स्वतंत्र एवं संप्रभु राजनीतिक इकाइयां थीं जिनका अंग्रेज़ी राज से संबंध बराबरी का भले न हो पर आधीनता का भी नहीं था। अंग्रेज़ों ने एक शक्तिशाली केंद्रीय सत्ता के रूप में रक्षा, विदेशी मामलों एवं कुछ आर्थिक मामलों में पूरे देश में एक प्रकार की राजनीतिक एकता स्थापित करने की कोशिश अवश्य की, पर ऐसी कोशिशें पहले भी होती रही थीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत को राजनीतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से एक करने की एक बार फिर कोशिश की गई, परंतु तब तक देश का भारत और पाकिस्तान के रूप में बंटवारा हो चुका था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की एकता की सबसे प्रमुख अभिव्यक्ति एक राष्ट्र के रूप में होती है। यह एक ओर स्वाधीनता आंदोलन की उपज है तो दूसरी ओर अंग्रेज़ी राज की संवैधानिक विरासत की। आज देश में राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकता है, परंतु साथ ही अनेक राजनीतिक दल एवं राजनीतिक विचारधाराएं भी हैं। इस तरह, राजनीति इस देश की एकता एवं विविधता दोनों की कारक है।

❑ भाषाई कारक

भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है। भाषा सांस्कृतिक विविधता एवं एकता की एक अन्य कारक है। यह सामूहिक पहचान और कभी-कभी सामूहिक संघर्ष में महत्त्वपूर्ण

भूमिका अदा करती है। भारतीय संविधान में 18 भाषाओं की चर्चा हुई है। सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं की कई क्षेत्रीय उपभाषाएं एवं बोलियां हैं। उदाहरणस्वरूप, हिंदी भाषा में अवधी, बृज, भोजपुरी, मगधी, बुंदेली, पहाड़ी, मालवी जैसी कई उपभाषाएं तथा बोलियां हैं। भाषाविदों ने भारत में 179 भाषाओं तथा 544 बोलियों की पहचान की है। इन भाषाओं और बोलियों को तीन भाषा परिवारों- इंडो आर्यन, द्रविड़ियन तथा मुंडारी में बांटा गया है। इंडो आर्यन भाषा परिवार के अंतर्गत संस्कृत एवं अन्य उत्तर भारतीय भाषाएं जैसे हिंदी, बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी एवं इनकी बोलियां आती हैं। द्रविड़ियन भाषा परिवार के अंतर्गत तमिल, तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयालम आती हैं। मुंडारी भाषा समूह के अंतर्गत जनजातीय समुदायों की पारंपरिक भाषाएं एवं बोलियां आती हैं।

मध्यकाल के दौरान फारसी, अरबी एवं उर्दू जैसी भाषाएं भारत में लोकप्रिय हुईं। हिंदुस्तानी भाषा के रूप में उर्दू एवं हिंदी का विकास करीब-करीब एक ही समय एवं क्षेत्र में साथ-साथ हुआ। इन दोनों भाषाओं की लिपियां तो भिन्न हैं परंतु इनके बीच बहुत अधिक समानताएं हैं। मध्यकाल में अरबी तथा फारसी राजदरबार एवं राजकाज की भाषा के रूप में लोकप्रिय हुईं।

आधुनिक काल में अंग्रेज़ी ने राजदरबार तथा राजकाज की भाषा के रूप में उर्दू का स्थान ग्रहण किया हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी को राष्ट्र-भाषा का दर्जा दिया गया परंतु अंग्रेज़ी केंद्रीय सरकार तथा न्यायालयों की भाषा बनी रही। 1835 के बाद से उच्च शिक्षा एवं शोध की भाषा के रूप में भी अब तक अंग्रेज़ी का महत्त्व बरकरार है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी अंग्रेज़ी को दिए गए महत्त्व का प्रभाव जहां एक ओर भारतीय भाषाओं एवं साहित्य पर पड़ा, वहीं दूसरी ओर सामाजिक संरचना एवं श्रम-विभाजन पर भी पड़ा। अंग्रेज़ी बोलने वाले प्रभावशाली वर्ग एवं भारतीय भाषा तथा बोलियां बोलने वाले लोगों के बीच का सामाजिक तथा आर्थिक विभाजन काफी स्पष्ट रहा है।

भारतीय संस्कृति की एकता एवं निरंतरता में भाषाओं की सराहनीय भूमिका रही है। यद्यपि भाषा एवं बोली की दृष्टि से भारत में बहुत अधिक विविधता रही है परंतु विचारों तथा विषयों की दृष्टि से इनकी अभिव्यक्तियों में मौलिक समानता रही है। व्याकरण की दृष्टि से भी इसकी संरचना में एकत्व रहा है। संस्कृत का प्रभाव उत्तर भारतीय भाषाओं पर तो है ही, दक्षिण की भाषाओं में भी संस्कृत के बहुत से शब्द एवं मुहावरे पाए जाते हैं। अरबी, फारसी एवं अंग्रेज़ी के बहुत सारे शब्द विभिन्न भारतीय भाषाओं द्वारा अपना लिए गए हैं। समायोजन की प्रक्रिया विभिन्न संजातीय समूहों के बीच भारतीय साहित्य में भी होती रही है।

भाषा भी अनेकता एवं अलगाववाद का एक कारक रही है। भाषाई अलगाववाद के पीछे एक मज़बूत भावनात्मक अनुरोध है। भाषा के आधार पर विभिन्न समुदायों के बीच राजनीतिक ध्रुवीकरण एवं संघर्ष होते रहे हैं। परंतु यह ध्यान देने योग्य है कि भाषा के आधार पर राजनीतिक ध्रुवीकरण या संघर्ष भाषाई विविधता के स्वाभाविक परिणाम नहीं हैं। इन ध्रुवीकरणों एवं संघर्षों का विकास आधुनिक काल में विशेष ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की भाषाई समस्या के केंद्र में तीन मुद्दे थे –

1. सरकारी भाषा की मान्यता का मुद्दा।
2. भाषा के आधार पर स्थापित प्रदेशों के पुनर्गठन का मुद्दा। अंग्रेज़ों ने प्रदेशों को भाषा के आधार पर विभाजित नहीं किया था।

3. पुन:स्थापित राज्यों में अल्पसंख्यक भाषाओं की प्रस्थिति का मुद्दा।

काफी विचार-विमर्श के बाद, हिंदी को सरकारी भाषा का दर्जा दिया गया परंतु संक्रमण काल के लिए अंग्रेज़ी का उपयोग जारी रखने का निर्णय हुआ। शुरू में, इस संक्रमण काल को 15 वर्षों तक सीमित किया गया था, परंतु सन 1965 में अंग्रेज़ी को 'अतिरिक्त सहायक सरकारी भाषा' के रूप में केंद्र सरकार एवं विभिन्न प्रदेश सरकारों के बीच कामकाज एवं बोलचाल की भाषा के रूप में मान्यता दे दी गई। प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग संबंधित प्रदेशों में होने लगा और इनको अन्य राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया। यद्यपि हिंदी देश के सरकारी कामकाज की भाषा है, परंतु 'अतिरिक्त सहायक सरकारी भाषा' अंग्रेज़ी ने अपनी शक्ति, प्रभाव और आकर्षण को बरकरार रखा है।

पारंपरिक भारत में एकता के तत्त्व

सांस्कृतिक-आर्थिक अंत:क्रिया एवं भौगोलिक गतिशीलता के कारण भारत में एक अखिल भारतीय शैली का उदय हुआ है। इसके विभिन्न क्षेत्रों के बीच संयुक्तता, अंत:संबंधित कड़ियों के तत्त्वों की शृंखला विकसित हुई। भारत में अखिल भारतीय संरचना के निम्नलिखित तत्त्वों को पहचाना जा सकता है –

1. भारतीय परंपरा में 'मार्गी' की अवधारणा और 'देसी' से इसका संबंध – मार्गी या शास्त्रीय संस्कृति की अवधारणा विभिन्न क्षेत्रों में समान रूप से स्वीकृत है जबकि देसी संस्कृति एक खास क्षेत्र तक सीमित है। मार्गी संस्कृति को संप्रेषित करने वाली भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, पाली एवं तमिल का प्रमुख स्थान है।
2. संस्कृत-ब्राह्मी लिपि भारतीय तथा भारतीय उपमहाद्वीप की भाषाओं और साहित्य के बीच संपर्क एवं संवाद का प्रमुख माध्यम रही है।
3. हर भाषा क्षेत्र में कृषक, कारीगर एवं विभिन्न प्रकार की विशिष्ट सेवा प्रदान करने वाली जातियां पाई जाती हैं जो उस क्षेत्र के ग्रामीण समुदाय की रीढ़ होती हैं। इनके बीच पाए जाने वाले पारंपरिक संबंधों को जजमानी व्यवस्था कहा जाता है। शहरी क्षेत्रों में इसे उद्योग-व्यवसाय कहा जाता है। शहरी क्षेत्रों में प्रभुतासंपन्न जातियों में बनिया (व्यापारी), शिल्पकार और अन्य जातियों जैसे ब्राह्मण और कायस्थ को माना जाता था।
4. प्रशासन एवं रक्षा की संस्थाओं में गतिशीलता पाई जाती रही है। संगीत एवं नृत्य के घरानों जैसी सांस्कृतिक संस्थाओं में शिष्य/शिष्याओं, सहयोगियों, सहायकों एवं गायकों, वादकों की नियुक्ति पात्रता, प्रशिक्षण एवं अभिरुचि के आधार पर होती रही है। चिकित्सा, उच्च शिक्षा, धार्मिक पीठ एवं उपासना संप्रदायों के अखाड़ों का चरित्र भी स्थानीय न होकर अखिल भारतीय मानदंडों से नियंत्रित होता रहा है।
5. तीर्थयात्रा केंद्रों ने भी अखिल भारतीय स्तर पर एकता बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विभिन्न सांस्कृतिक अवसरों पर इन तीर्थ स्थलों में जाति, वर्ग एवं अन्य सामाजिक निषेधों का महत्त्व काफी हद तक कम हो जाता है। इन तीर्थ केंद्रों में विभिन्न क्षेत्रों से आए लोगों में अंत:क्रिया से अंतरंगता बढ़ती है, जिससे अंतत: सामाजिक-सांस्कृतिक सद्भाव एवं एकता बढ़ती है। काशी, हरिद्वार, रामेश्वरम, द्वारका, बद्रीनाथ, गया, अमृतसर, अजमेर शरीफ़ इत्यादि तीर्थस्थान इसके उदाहरण हैं।

6. सांस्कृतिक पहचान आध्यात्मिक एवं कर्मफल के आधार पर बनाए रखी जाती है। जैसे- कर्मफल की अवधारणा एवं ज्ञान की अवधारणा।
7. अखिल भारतीय स्तर के महाकाव्यों एवं पौराणिक कथाओं का रूपांतरण करीब-करीब हर क्षेत्र में पाया जाता है जिसके फलस्वरूप समान आदर्श एवं लक्ष्य का विकास होता रहा है। उदाहरण के लिए पुरुषार्थ, ऋणों की अवधारणा, दान, व्रत, प्रायश्चित एवं जन्म, मृत्यु व विवाह के अवसर पर संस्कारों की विधि का स्वरूप संरचना की दृष्टि से अखिल भारतीय रहा है।
8. पारंपरिक उत्तराधिकार कानून एवं अन्य सामाजिक रीति-रिवाजों एवं परंपराओं में भी अखिल भारतीय स्तर पर काफी समानता एवं समरूपता रही है। दायभाग बंगाल में एवं मिताक्षरा केरल एवं बंगाल को छोड़कर पूरे देश में लोकप्रिय रहा है।
9. अधिकांश भारतीय लोग स्वर्ग, नरक की अवधारणा में विश्वास करते हैं और जीवन-मरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष की कामना करते हैं जो कि ब्रह्म से जुड़ी हुई है।

मध्यकालीन भारत में एकता के तत्त्व

मध्यकाल में जब यूरोप और मध्यपूर्व में असहिष्णुता एवं उत्कट अविश्वास के कारण घृणित धार्मिक एवं सांप्रदायिक लड़ाई का बोलबाला था, तब भारत में विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच सापेक्षिक रूप से शांति एवं सद्भाव था। इसमें भारत की सहिष्णुता की परंपरा का हाथ तो था ही, अकबर जैसे महान शासकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

इस्लाम के प्रभाव से हिंदू धर्म के अंतर्निहित समानता के सिद्धांत को बल मिला और कर्मकाण्ड का प्रभाव हिंदू समाज में कम हुआ। इसी प्रकार हिंदू दर्शन के प्रभाव से इस्लाम में आध्यात्मिक तत्त्वों को प्रोत्साहन मिला। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत के नयनार संतों द्वारा शुरू किए गए भक्ति आंदोलन को इस्लाम तथा मुस्लिम प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में उत्तर भारत में फैलाने में बल मिला। उसी तरह इस्लाम के आध्यात्मिक तथा उपासनात्मक पक्ष को हिंदू धर्म दर्शन के संपर्क से बल मिला। रामानंद, कबीर, नानक, रहीम और दारा शिकोह आदि ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच आपसी विश्वास और सौहार्द्र विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भाषा, संगीत तथा कला के क्षेत्र में मध्यकाल में एक साझी संस्कृति विकसित हुई। हिंदी तथा उर्दू इसी साझी संस्कृति की उपज हैं। दोनों भाषाओं का आधार साझा है, शब्द-भंडार साझे हैं, परंतु इनकी लिपियां अलग हैं-देवनागरी तथा फ़ारसी। संगीत तथा कला के क्षेत्र में हिंदू तथा मुसलमान साथ-साथ आए। उत्तर भारतीय हिंदुस्तानी संगीत मुस्लिम राजदरबारों, हिंदू मंदिरों एवं नर्तकियों के कोठों पर विकसित हुआ। हिंदू गायकों ने मुस्लिम राजदरबारों में तथा मुस्लिम भजन गायकों ने हिंदू मंदिरों में भजन गाए। राधा, कृष्ण एवं गोपियों के गीत हिंदुस्तानी एवं मुस्लिम गायक-गायिकाओं के बीच समान रूप से लोकप्रिय रहे हैं।

मध्यकाल की भवन-निर्माण कला में भी हिंदू-मुस्लिम तत्त्वों का मिश्रण देखने को मिलता है। अकबर के शासनकाल में तुर्की और फारसी अवधारणाओं तथा भारतीय शैलियों के बीच सम्मिश्रण किया गया। जहांगीर के शासनकाल में हिंदू प्रभाव कुछ और बढ़ा। सिकंदरा में अकबर के मकबरे में मेहराबों तथा गुंबदों के बावजूद सामान्य प्रतिमान पर बौद्ध विहारों एवं महाबलिपुरम के रथों का प्रभाव बड़ा स्पष्ट है। फतेहपुर सीकरी की मस्जिद पर जैन प्रभाव पाया गया। मुगलकालीन भवन-निर्माण कला की विशेषता उसकी मौलिकता है जो न तो पारंपरिक फारसी शैली और न ही भारतीय शैली में है।

मध्यकालीन चित्रकला में भी, तुर्की-इरानी शैली एवं पारंपरिक भारतीय शैली का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। अकबर ने अपने दरबार में प्रोत्साहन देने के लिए एक अकादमी स्थापित की जिसमें हिंदू और मुस्लिम कलाकार साथ-साथ काम करते थे। जहांगीर ने न सिर्फ कला को संरक्षण प्रदान किया बल्कि वह खुद भी एक कलाकार था। उसके राज में चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची।

आधुनिक भारत में एकता के तत्त्व

औपनिवेशिक काल में विभिन्न कारकों ने भारतीय समाज की संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। इससे भारतीय सभ्यता की एकता की पारंपरिक रूपरेखा को भारी दबाव से गुज़रना पड़ा। औपनिवेशिक शासकों द्वारा शुरू किए गए आधुनिक शिक्षण से भारतीय संस्कृति में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया शुरू होने लगी।

स्वतंत्रता आंदोलन (1857-1947) ने भारतीय समाज में एकता का नया स्रोत विकसित किया। भारतीय समाज में समन्वय बढ़ाने में राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीयता की भावना की भूमिका धर्म एवं संस्कृति की तुलना में धीरे-धीरे ज़्यादा प्रमुख होती गई। 1947 में देश के बंटवारे के बावजूद भारतीय एकता के आधार के रूप में स्वाधीनता आंदोलन की भावना अभी भी विद्‌यमान है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्र और इसकी विभिन्न इकाइयां भारत की एकता को बढ़ाने के स्तंभ बन गए। भारतीय संविधान ने भारत की एकता को और बढ़ाने के लिए उसे समानता, भ्रातृत्व, पंथ-निरपेक्षता एवं न्याय जैसे मूल्यों के साथ जोड़ दिया है। समकालीन भारत में एकता के प्रमुख स्रोत इस प्रकार हैं -

1. भारतीय संविधान आज भारत में एकता का सबसे मौलिक स्रोत है। भारतीय लोग इसकी मौलिक रूपरेखा को एकता के लिए आधार-स्तंभ मानते हैं।
2. भारतीय संसद भारतीय राष्ट्र की वह इकाई है जो राष्ट्रीय स्तर पर विधियों या विधेयकों का निर्माण करती है। संसद के प्रतिनिधियों का चुनाव आम जनता द्‌वारा होता है। हर वयस्क नागरिक इस चुनाव में अपने मत द्‌वारा निर्णायक भूमिका अदा करता है। यह लोगों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता है।
3. औपचारिक रूप में भारत सरकार के मुखिया राष्ट्रपति हैं, परंतु वे प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद् की राय से शासन चलाते हैं।
4. न्यायपालिका इस देश की जनता को कानूनी संरक्षण देती है। राष्ट्रीय, प्रांतीय एवं स्थानीय स्तर पर न्यायपालिका एक स्वायत्त संगठन है तथा यह भारत के संविधान की परिरक्षक है।
5. नौकरशाही, पुलिस तथा अन्य प्रशिक्षित व्यवसायों के लोग जैसे अभियंता, वैज्ञानिक, चिकित्सक, शिक्षक एवं पत्रकार आदि का इस देश में व्यवस्था कायम रखने, शासन चलाने तथा विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस दृष्टि से भारतीय सेना के योगदानों की विशेष चर्चा की जानी चाहिए। आतंकवाद, राजद्रोह, सीमा पर बढ़ रहे दबाव से सफलतापूर्वक जूझने, बाढ़, भूकंप, समुद्री तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं के दौरान योगदान एवं उपलब्धियों के लिए भारतीय सेना को सराहा जाना स्वाभाविक है।
6. आधुनिक जनसंचार के साधनों, जैसे रेल, सड़क, वायुयान, जलयान, डाक-घर, टेलीग्राफ, टेलीफोन, अखबार, पत्रिकाओं, रेडियो एवं टेलीविजन आदि ने भारतीयों में राष्ट्रीयता और

'हम की भावना' फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

7. औद्योगीकरण, शहरीकरण एवं अन्य आर्थिक कारकों ने देश में पूंजीपति एवं मध्य वर्ग को जन्म दिया है। इसके अलावा मज़दूरों तथा सेवा प्रदान करने वालों के बीच पूरे देश में गतिशीलता आई है।

राष्ट्र-निर्माण एवं राष्ट्रीय एकता की समस्याएं

संस्कृति, प्रथा, जीवन-दृष्टि, भाषा आदि के आधार पर एक अलग समूह की पहचान की चेतना विकसित होती है। इस पहचान के आधार पर संजातीयता और संजाति समूह का विकास होता है। यह अनुभव किया गया कि एक संजातीय समूह द्वारा दूसरे संजातीय समूह का दमन करने पर संजातीय संघर्ष और संजातीय स्वचेतना का विकास होता है। दमन की यह अनुभूति राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या सामाजिक हो सकती है। एक जाति, जनजाति, भाषा समूह, धार्मिक और सांस्कृतिक समूह भी संसाधन पाने के लिए स्पर्धा करते हुए संजातीय समूह की तरह व्यवहार कर सकते हैं। सृजनात्मक समझौते की रणनीति द्वारा संजातीय भागों से उत्पन्न समस्याओं में से अधिकांश का समाधान किया जा सकता है। स्वतंत्र भारत में संजातीय मांगें होती रही हैं। भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक धार्मिक समूह, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों की संजातीय मांगों के निराकरण का प्रयास भारतीय संविधान में किया गया था। भाषा के आधार पर प्रांतों का पुनर्गठन भी संजातीय भिन्नताओं के कारण ही किया गया था। द्रविड़ आंदोलन भी मूलतः संजातीय आंदोलन था। कश्मीर, उत्तर-पूर्व, गोरखालैंड, पंजाब एवं अन्य स्थानों से भी संजातीय मांगें होती रही हैं।

राष्ट्र-निर्माण के लिए भारतीय संविधान में दो प्रकार की नीतियां अपनाई गई हैं –

(क) पारंपरिक रूप से वंचित एवं शोषित तबकों की भलाई के लिए सकारात्मक विभेदीकरण या आरक्षण।

(ख) सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास के लिए एक विस्तृत राष्ट्रीय नीति जो न्यायिक, प्रशासनिक एवं संस्थागत आधुनिकीकरण एवं नागरिक संस्कृति के सिद्धांतों पर आधारित है।

प्रभावी राष्ट्रनिर्माण एवं राष्ट्रीय एकता के सामने सबसे बड़ी चुनौती है देश में वर्षों से व्याप्त गरीबी, आर्थिक ध्रुवीकरण, जनसंख्या अतिरेक एवं विकास की दृष्टि से क्षेत्रीय असंतुलन। एक ओर वैश्वीकरण के कारण शिक्षित एवं समृद्ध तबकों के लिए नए अवसर सामने आए हैं। वैश्वीकरण ने समृद्ध तबकों के शिक्षित, कुशल एवं धनी वर्ग के व्यक्तियों को विश्व बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में भाग लेने का सुअवसर दिया है। दूसरी ओर बहुसंख्यक ग्रामीण व शहरी युवकों एवं परिवारों में गरीबी, बेरोज़गारी व पिछड़ापन लगातार बढ़ रहा है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में फिल्मों एवं टेलीविजन कार्यक्रमों ने सामूहिक राष्ट्रीय चेतना के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पारंपरिक एवं धार्मिक विषयों जैसे आध्यात्मिक-महाकाव्यों, आख्यानों के प्रसारण के साथ-साथ शासन एवं लोकतांत्रिक राजनीति के प्रचार-प्रसार में टेलीविज़न के विभिन्न चैनलों एवं सुरुचिपूर्ण फिल्मों का राष्ट्रीय एकता बढ़ाने में सराहनीय योगदान रहा है। टेलीविजन का मुख्य सरोकार अब क्रिकेट जैसे खेल और आधुनिक-पाश्चात्य शैली के लोकप्रिय मनोरंजन के प्रायोजित कार्यक्रमों का प्रसारण होता जा रहा है।

शब्दावली

उपचय – नए बाह्य समूह के जुड़ने के परिणामस्वरूप समाज के आकार में वृद्धि ।

परसंस्कृतिग्रहण – वह प्रक्रिया जिसमें एक समूह बिना अपनी पहचान खोए दूसरे समूह के व्यवहार, रीति-रिवाज इत्यादि में इसलिए उसके अनुरूप हो जाता है क्योंकि उसके निकट बहुत समय तक रहता आया है।

एकता – समाज की विभिन्न इकाइयों/ तत्त्वों का एक समाज में समाहित हो जाना ।

विविधता – प्रकार, स्वरूप एवं सर्जन में विविधता।

एकीकरण – वह सामाजिक प्रक्रिया जिसमें समाज की भिन्न इकाइयां समाहित होकर एक पूर्ण इकाई बन जाती है।

राष्ट्र – व्यक्तियों का वह जन समुदाय जो एक राज्य और एक भू-भाग में निवास करता हो और जिसमें संस्कृति, इतिहास, भाषा और वंशानुक्रम समान हों ।

तीर्थाटन – किसी ऐसे पवित्र स्थान या देव स्थल की यात्रा जो धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता हो और जिससे धर्म से समीपता की भावना व्यक्त होती हो ।

बहुलवाद – समाज में विविध नृजातीय, सांस्कृतिक एवं धार्मिक समूहों का होना।

अभ्यास

1. भारत में एकता के भौगोलिक कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. भारत में एकता के धार्मिक कारकों की व्याख्या कीजिए।
3. भाषा किस प्रकार एकता का एक स्रोत है?
4. परंपरागत भारत में एकता के तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
5. आधुनिक भारत में एकता के तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
6. भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ाने हेतु कौन से निर्णय लिए गए हैं ?

संदर्भ-ग्रंथ

- अहमद, इम्तियाज़, घोष, पी. एस. और रेफ़ील्ड, एच., (सं.), ***प्लुरलिज़्म एंड इक्वैलिटी : वेल्यूजज़ इन इंडियन सोसाइटी एंड पोलिटिक्स,*** सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2000
- गोरे एम.एस., ***युनिटी इन डाइवर्सिटी : दि इंडियन एक्सपीरिएंस इन नेशन बिल्डिंग,*** रावत प्रकाशन, जयपुर, 2002
- कबीर, हुमायूं, ***अवर हैरिटेज,*** नेशनल इंफॉरमेशन एण्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड, मुंबई, 1946

- मलिक, एस.सी., ***अंडरस्टैंडिंग इंडियन सिविलाइज़ेशन : ए फ्रेमवर्क ऑफ इनक्वायरी,*** इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी, शिमला, 1975
- शर्मा, एस. एल. एवं उम्मन, टी. के., (सं.), ***नेशन एंड नेशनल आईडेंटिटी इन साउथ एशिया,*** ओरियेंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 2000
- सिंह, योगेंद्र, ***सोशल चेंज इन इंडिया,*** हरआनंद प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

अध्याय 2

सामाजिक जनांकिकी

सामाजिक जनांकिकी का अर्थ

मानव जनसंख्या के अध्ययन के लिए दो शब्द लोकप्रिय हैं – (1) जनसंख्या अध्ययन तथा (2) जनांकिकी। जनसंख्या अध्ययन के अंतर्गत सामान्यत: जन्म, मृत्यु, प्रवास, विवाह जैसे जनसंख्यात्मक चरों का अध्ययन किया जाता है। साथ ही सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, जैविकीय, आनुवांशिक, भौगोलिक जैसे अन्य चरों के साथ जनसंख्यात्मक परिवर्तनों के संबंधों का अध्ययन भी किया जाता है। दूसरी ओर, जनांकिकी शब्द का प्रयोग मानवीय जनसंख्या के आकार, संरचना, वितरण एवं इनमें होने वाले परिवर्तनों के एक गणितीय तथा सांख्यिकीय अध्ययन के लिए किया जाता है। परंतु विभिन्न जनसंख्या विश्लेषकों द्वारा दोनों शब्दों को समानार्थक शब्द माना जाता है। आजकल 'जनांकिकी' शब्द का प्रयोग 'जनसंख्या अध्ययन' से ज़्यादा लोकप्रिय है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से जनांकिकी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन 1855 में गुइलार्ड ने किया था। जनांकिकी अंग्रेज़ी शब्द डेमोग्राफी का हिंदी रूपांतरण है। डेमोग्राफी दो शब्दों 'डेमस' और 'ग्राफी' से मिलकर बना है। पहले शब्द का तात्पर्य 'जनसंख्या' से है जबकि दूसरे का तात्पर्य 'विवरणात्मक विज्ञान' से है। ये दोनों संयुक्त रूप से व्यवस्थित विवरणात्मक और वैज्ञानिक जनसंख्या अध्ययन को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार, जनांकिकी का अर्थ है जनसंख्या और उससे संबंधित विभिन्न पहलुओं के तार्किक और व्यवस्थित अध्ययन का विज्ञान। जनांकिकी सामुदायिक जीवन की स्थितियों जैसे जन्म, मृत्यु, आयु, प्रवास, जनसंख्या की ग्रामीण एवं नगरीय संरचना आदि का सांख्यिकीय अध्ययन है। यह एक ओर 'जनांकिकीय प्रक्रियाओं' के अध्ययन से तो दूसरी ओर जनसंख्या की 'जनांकिकीय संरचनाओं' से संबंधित है।

जनांकिकी की दो प्रमुख शाखाएं हैं : जनांकिकीय प्रक्रियाएं तथा जनांकिकीय संरचनाएं। जनांकिकीय प्रक्रियाओं के तहत मुख्य रूप से जन्म, मृत्यु और प्रवसन आता है। उसी प्रकार जनांकिकीय संरचनाओं के अंतर्गत मुख्य रूप से जनसंख्या की संरचना, जनसंख्या का आकार, क्षेत्रीय अथवा स्थानीय संरचना, स्त्री–पुरुष संरचना तथा जनसंख्या की सामाजिक संरचना शामिल है।

उपरोक्त दृष्टि से, जनांकिकी को सामान्यत: औपचारिक एवं सामाजिक जनांकिकी के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। औपचारिक जनांकिकी जन्म, मृत्यु, प्रवास, विवाह, तलाक जैसे महत्त्वपूर्ण जीवन संबंधी आंकड़ों/घटनाओं के गणितीय अध्ययन को कहते हैं, जबकि सामाजिक जनांकिकी का संबंध जनांकिकीय तथ्यों के सामाजिक एवं आर्थिक तथ्यों के साथ संबंधों के अध्ययन से है।

जनांकिकीय अध्ययन के क्षेत्र में हाल में हुए विकास ने औपचारिक जनांकिकी की तुलना में सामाजिक जनांकिकी को ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बना

दिया है। सामाजिक जनांकिकी जनांकिकीय घटकों के साथ-साथ गैर-जनांकिकीय घटकों, जैसे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों को भी ध्यान में रखती है। इस परिवर्तन ने जनांकिकी को अधिक प्रासंगिक और सारगर्भित बना दिया है। इससे जनांकिकी परिवर्तनों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी व्याख्या की जा सकती है। सामाजिक जनांकिकी, ज्ञान की एक नई शाखा के रूप में जनांकिकी और समाज विज्ञान शास्त्र के बीच अवस्थित है। सामाजिक जनांकिकी की विषय-वस्तु अपनी मूल शाखाओं जनांकिकीय प्रक्रियाओं तथा जनांकिकीय संरचनाओं के साथ-साथ समाजशास्त्र द्वारा अध्ययन किए जाने वाले समाज के दो प्रमुख पक्षों अर्थात सामाजिक प्रक्रियाओं तथा सामाजिक संरचना को भी अपने में समाहित करती है। इस प्रकार, सामाजिक जनांकिकी के अंतर्गत चार उप-विभाजन हैं-(1) जनांकिकीय प्रक्रियाएं (2) जनांकिकीय संरचनाएं (3) सामाजिक प्रक्रियाएं तथा (4) सामाजिक संरचनाएं।

सामाजिक जनांकिकी इस धारणा पर आधारित है कि सामाजिक प्रक्रियाएं तथा सामाजिक संरचनाएं, जनांकिकीय प्रक्रियाओं तथा जनांकिकीय संरचनाओं को नियमित करती हैं। यह धारणा समाज विज्ञान की प्रासंगिकता को स्पष्ट करती है। चूंकि जनांकिकीय प्रवृत्तियां सामाजिक रूप से अनुकूलित होती हैं, अतः सामाजिक निर्धारकों की पहचान एवं जांच आवश्यक है। समाजशास्त्रीय ज्ञान से युक्त एक विद्यार्थी इस बात की जांच करता है कि किस प्रकार जनांकिकीय चर सामाजिक कारकों द्वारा नियमित और निर्धारित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, एक शिशु का जन्म परिवार में होता है। बच्चों के जन्म की प्रक्रिया का सामाजिक संदर्भ सदैव परिवार ही होता है। परिवार, इसकी संरचनाएं, इसके सांस्कृतिक आधार तथा इसके मानदंड शिशु के जन्म या प्रजनन-दर को नियमित करते हैं।

सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक संरचनाओं में कई चर शामिल हैं जैसे समाजीकरण, संप्रेषण, सांस्कृतिक रूपांतरण, मूल्य, विश्वास, प्रथा, गतिशीलता, शिक्षा, परिवार की संरचना, जाति, वर्ग-व्यवसाय, नातेदारी, संजातीयता, विवाह के प्रकार इत्यादि। ये सभी प्रक्रियात्मक तथा संरचनात्मक घटक, जिसमें समाजशास्त्रियों की रुचि है प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनांकिकीय चरों को प्रभावित करते हैं तथा इनसे प्रभावित भी होते हैं। इस प्रकार, जनांकिकीय और समाजशास्त्रीय चरों के बीच घनिष्ठ संबंध है। उनके बीच यह अन्योन्याश्रितता और अंतर्निभरता, सामाजिक जनांकिकी का केंद्रीय पहलू बन जाता है।

भारत की सामाजिक-जनांकिकीय रूपरेखा

हमने देखा है कि सामाजिक जनांकिकी एक जटिल विषय है क्योंकि यह कई जनांकिकीय एव सामाजिक कारकों को सम्मिलित करता है। सामाजिक जनांकिकीय के परिप्रेक्ष्य में अब हम संक्षेप में भारत में जनांकिकीय प्रवृत्तियों की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करेंगे। जनसंख्या के आधार पर भारत विश्व में दूसरा सबसे बड़ा देश है। भारत की जनसंख्या मोटे तौर पर विश्व की जनसंख्या का 16 प्रतिशत है, जबकि चीन की जनसंख्या 22 प्रतिशत है। चीन जनांकिकीय स्थिरता की स्थिति को लगभग प्राप्त कर चुका है, जिसे भारत ने अभी तक प्राप्त नहीं किया है। भारत में जन्म दर अभी तक स्थिर नहीं हो पाई है। यू.एन.डी.पी. की 'ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट 2002' के अनुसार भारत में संपूर्ण जन्म दर 1970-75 के दौरान प्रति स्त्री 5.4 थी जो 1995-2000 के दौरान 3.3 हो गई है। आगे प्रस्तुत की गई तालिका चयनित जनांकिकीय सूचकों के संदर्भ में भारत में जनसंख्या की स्थिति को दर्शाती है।

तालिका 1: भारत की जनसंख्या की जनांकिकीय विशेषताएं

वर्ष	अ.ज.द.	अ.मृ.द.	शि.मृ.द.	प्रवसन (%प्रवसनों का वितरण)
1971	37	13	129	30
1981	34	10	110	31
1991	20	9	85	27
2001	18	8	71	28

अ.ज.द. — प्रति हज़ार व्यक्ति अशोधित जन्म-दर
अ.मृ.द. — प्रति हज़ार व्यक्ति अशोधित मृत्यु-दर
शि.मृ.द.— प्रति हज़ार जीवित जन्मों पर शिशु मृत्यु-दर

तालिका 2 : भारत की जनसंख्या और उसकी वृद्धि-दर

वर्ष	कुल जनसंख्या	दशक में वृद्धि-दर (%)	औसत वार्षिक वृद्धि-दर (%)
1971	548	25	2.20
1981	683	25	2.22
1991	846	24	2.14
2001	1027	21	1.93

तालिका 3: भारत में जनसंख्या की आयु संरचना

वर्ष	0-14 (%)	15-59 (%)	60 से ऊपर (%)
1971	42	53	5
1981	40	54	6
1991	36	58	6
2001	35	59	7

तालिका 4: भारतीय जनसंख्या का प्रति दस लाख जनसंख्या में स्त्री-पुरुष अनुपात

वर्ष	पुरुष	स्त्री
1971	284	264
1981	353	331
1991	438	406
2001	531	496

तालिका 5: भारतीय जनसंख्या में ग्रामीण-नगरीय अनुपात

वर्ष	ग्रामीण	नगरीय
1971	80	20
1981	78	22
1991	74	26
2001	72	28

तालिका 6 : भारत में साक्षरता की स्थिति

वर्ष	सकल जनसंख्या में साक्षरता का प्रतिशत
1971	34
1981	44
1991	52
2001	65

तालिका 7: भारतीय जनसंख्या में लिंग अनुपात

वर्ष	अनुपात (स्त्री/पुरुष)
1971	930
1981	934
1991	927
2001	933

स्रोत -- *भारत की जनगणना*, 2001

नोट -- सभी तालिकाओं के प्रतिशत समीपवर्ती संख्या में पूर्ण कर लिए गए हैं।

भारत की जनसंख्या की ये सामाजिक तथा जनांकिकीय विशेषताएं अग्रलिखित बातों को स्पष्ट करती हैं :

1. भारत में जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा शिशु-मृत्यु-दर घट रही है, किंतु विकसित देशों की तुलना में ये अब भी ज़्यादा है।
2. जनसंख्या की वृद्धि घट रही है जैसाकि अशोधित जन्म-दर से स्पष्ट है (तालिका 1)। जनसंख्या की दशाब्दी वृद्धि और औसत वार्षिक वृद्धि (तालिका 2) भी घट रही है, किंतु भारत में कुल जनसंख्या का आकार बढ़ा है। भारत की जनसंख्या अब एक अरब से अधिक है।
3. भारत में जनसंख्या के आकार में वृद्धि का कारण मृत्यु-दर में कमी है जो जन्म-दर से अधिक तीव्र गति से घटी है। आयु प्रत्याशा में वृद्धि के साथ ही भारत में मृत्यु-दर में अपेक्षाकृत तीव्र गति से कमी आई है। परिणामस्वरूप भारत में जनसंख्या के आकार में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त, कई सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारक भारत में घट रही किंतु अभी भी उच्च जन्म-दर के लिए उत्तरदायी हैं।
4. जनसंख्या की आयु संरचना यह स्पष्ट करती है कि जन्म तथा मृत्यु-दर में कमी के कारण निम्नतर आयु संरचना स्तर पर जनसंख्या के आकार में कमी हो रही है। फिर भी उच्च जन्म-दर के प्रभाव के कारण इसका आकार अधिक विकसित देशों की तुलना में विस्तृत है (तालिका 3) ।
5. आयु संरचना भारत की जनसंख्या में एक महत्त्वपूर्ण जनांकिकीय परिवर्तन को स्पष्ट करती है। कार्यशील जनसंख्या के आकार में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है जिसके कई सामाजिक - आर्थिक तात्पर्य हैं।
6. भारत की जनसंख्या में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इसकी प्रौढ़ जनसंख्या के आकार में वृद्धि है। इसके भी कई सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य संबंधी कारण हैं। कार्यशील जनसंख्या और प्रौढ़ जनसंख्या के आकार में वृद्धि सरकार की विभिन्न नीतियों को प्रभावित करती है।
7. भारत की जनसंख्या में स्त्री-पुरुष तथा ग्रामीण-नगरीय अनुपात को देखने पर (तालिका 4 एवं 5) स्त्रियों का अनुपात अपेक्षाकृत कम है एवं जनांकिकीय संरचना में ग्रामीण जनसंख्या का आधिक्य है। ये दोनों विशेषताएं लिंग अनुपात में कमी तथा प्रवसन और नगरीकरण की धीमी प्रक्रिया से संबंधित हैं।
8. भारत की जनसंख्या में साक्षरता बढ़ी है और साक्षर जनसंख्या के आकार में वृद्धि हुई है किंतु इस संदर्भ में विगत दशक में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं दिखाई देता। यह भारत में औपचारिक शिक्षा की प्रगति पर प्रश्नचिह्न है।
9. स्त्री-पुरुष का न्यून अनुपात (तालिका 7)तथा उच्च शिशु-मृत्यु-दर भारतीय जनसंख्या में स्त्री की निम्न स्थिति एवं स्वास्थ्य की तुलनात्मक रूप से विपन्न स्थिति को दर्शाते हैं। उपर्युक्त सभी विशेषताएं सामान्यत: निम्न जीवन गुणवत्ता की ओर संकेत करती हैं।
10. जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया की तरह ही, प्रवसन भी एक जनांकिकीय प्रक्रिया है इससे जनसंख्या के आकार एवं संरचना में परिवर्तन आता है। प्रवसन निवास स्थान में परिवर्तन कर देता है, अत: इसे 'स्थानिक गतिशीलता' कहा जा सकता है जो कि स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय हो सकती है।

'स्थानीय स्थानिक गतिशीलता' प्रायः एक 'अल्पकालिक' प्रक्रिया होती है जैसे मौसमी कामगारों की गतिशीलता या छात्रों का अध्ययन के लिए बाहर जाना या किसी व्यक्ति का पहाड़ी स्थान पर घूमने के लिए जाना। इस प्रकार की गतिशीलता मूल स्थान में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं लाती। अतः इस प्रकार के लोग वास्तविक अर्थों में 'प्रवासी' नहीं समझे जाएंगे। कोई व्यक्ति अगर अपने मूल स्थान से किसी और स्थान के लिए स्थायी या अर्ध-स्थायी स्तर पर परिवर्तन करता है तो उसे भारतीय जनगणना के तहत प्रवासी कहा जाता है।

प्रवसन की दो मुख्य धाराएं हैं : (1) अल्पकालिक प्रवसन जिसके तहत मुख्यतः मौसमी या वे प्रवासी आते हैं जो कार्य हेतु किसी और स्थान पर जाते हैं तथा कुछ समय बाद अपने मूल स्थान पर वापस आ जाते हैं। (2) दीर्घकालिक प्रवसन जिसमें लोग यह सोचकर लंबी दूरी का प्रवास करते हैं कि वे अपने मूल स्थान से वहां स्थायी या अर्ध-स्थायी रूप से बस जाएंगे।

भारत में जनसंख्या अध्ययन से संबंधित प्रमुख सैद्धांतिक उपागम

अगर हम भारत में जनांकिकीय प्रवृत्तियों पर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि जनसंख्या वृद्धि-दर अभी भी उच्च है। जनसंख्या की वृद्धि उपलब्ध खाद्य संसाधनों के दायरे को पार कर चुकी है, अतः विद्वान लोग विभिन्न दृष्टिकोणों से अति जनसंख्या की समस्या में रुचि रखते हैं। उनके अनुसार यह समस्या अल्प विकास की समस्या से बहुत हद तक संबद्ध है। इस संदर्भ में प्रमुख दृष्टिकोण यह है कि भारत में जनसंख्या वृद्धि विकास को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर रही है। अतः जनसंख्या को नियंत्रित करना आवश्यक माना गया है। इसी उद्देश्य से राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 ने भारतीय जनसंख्या को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अपेक्षाओं के अनुरूप स्थिर रखने का लक्ष्य रखा है। अति जनसंख्या और अल्प विकास की समस्याओं की जांच कई उपागमों या परिप्रेक्ष्यों के आधार पर की गई है। इन्हें चार वर्गों में बांटा जा सकता है :

- ❑ जनांकिकीय परिप्रेक्ष्य
- ❑ आर्थिक परिप्रेक्ष्य
- ❑ समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
- ❑ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

❑ **जनांकिकीय परिप्रेक्ष्य** : यह सिद्धांत मुख्य रूप से माल्थस और नव-माल्थसवादी चिंतकों के विचारों से संबंधित है। थॉमस रॉबर्ट माल्थस (1766-1834) एक अर्थशास्त्री थे जिन्होंने जनसंख्या की समस्या की व्याख्या जनांकिकीय दृष्टिकोण से की। यह सिद्धांत माल्थस तथा अन्य विद्वानों द्वारा मुख्य रूप से यूरोपीय देशों में संचालित किए गए प्रयोगात्मक कार्य पर आधारित है। इस सिद्धांत की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. जनसंख्या में वृद्धि जीविका के साधनों की अपेक्षा तीव्र गति से होती है क्योंकि मनुष्य में तीव्र गति से बढ़ने का जन्मजात स्वाभाविक गुण है तथा
2. भूमि की उत्पादन क्षमता सीमित है। 'जनसंख्या की शक्ति' और 'धरती की शक्ति' के बीच एक प्रकार का प्रतिरोध है क्योंकि पहले वाले में बाद वाले की अपेक्षा उत्पादन क्षमता में तीव्र गति से वृद्धि होती है। ये दोनों असमान शक्तियां हैं।

इसके परिणामस्वरूप, एक तरफ जनसंख्या की वृद्धि और दूसरी तरफ खाद्य उत्पादन में कमी से एक अंतराल उत्पन्न होता है। इस प्रकार माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि संबंधी अपने सिद्धांतों को विकसित किया जिसे आगे दिया गया है:

1. जनसंख्या में खाद्य-उत्पादन की अपेक्षा तीव्र-गति से वृद्धि होती है। इस पर यदि नियंत्रण न रखा जाए तो यह वृद्धि 'ज्यामितीय अनुपात' में होती है।
2. खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि 'अंकगणितीय अनुपात' में होती है। इसका कारण उत्पादन के साधनों, खासकर ज़मीन पर उत्पत्ति का नियम लागू होना है।
3. इन दोनों के बीच असमानता उत्पादन में अंतर उत्पन्न करती है, जिसके परिणामस्वरूप गरीबी, बेरोज़गारी, अपराध की स्थिति उत्पन्न होती है।
4. माल्थस जनसंख्या में वृद्धि और पदार्थों की कमी के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए कुछ सुझाव देते हैं । ये हैं- (क) प्राकृतिक नियंत्रण तथा (ख) कृत्रिम नियंत्रण। प्राकृतिक नियंत्रण जैसे युद्ध, महामारी, प्लेग और अकाल आदि से जनसंख्या कम हो जाती है। कृत्रिम नियंत्रण जैसे देर से विवाह एवं परिवार नियोजन के साधनों का प्रयोग करना।

❑ **आर्थिक परिप्रेक्ष्य :** मार्क्सवादी सिद्धांत को जनसंख्या से संबंधित आर्थिक सिद्धांतों में सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कार्ल मार्क्स (1818-1883) तथा अन्य मार्क्सवादी लेखक माल्थसवादी सिद्धांत का समर्थन इस आधार पर नहीं करते। उनके अनुसार अति जनसंख्या की स्थिति पूंजीवादी पद्धति द्वारा उत्पन्न होती है क्योंकि इसमें मज़दूरों के वेतन एवं संसाधनों का युक्ति संगत वितरण नहीं होता। साथ ही इस व्यवस्था में पूंजी तथा मानवीय उत्पादक क्षमता का प्रभावी प्रयोग नहीं होता है।

पूंजी संचय की यह प्रक्रिया अतिरिक्त जनसंख्या के विभिन्न रूपों को उत्पन्न करती है जिससे गरीबी और विकासहीनता की स्थिति उत्पन्न होती है। इस प्रकार अति जनसंख्या आर्थिक पिछड़ेपन का कारण बन जाती है। इस सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. जनसंख्या वृद्धि जीवन की आर्थिक स्थितियों द्वारा निर्धारित होती है।
2. जनसंख्या और खाद्य उत्पादन का कोई सार्वभौमिक नियम नहीं है। यह उत्पादन की पद्धति में परिवर्तनों के अनुरूप ऐतिहासिक तौर पर निर्धारित होता है न कि जनसंख्या और भूमि की 'असमान शक्तियों' द्वारा।
3. जनसंख्या के अनुकूलतम आकार तथा जनसंख्या वृद्धि में नियंत्रण को प्रभावी बनाने के लिए सामाजिक पुनर्गठन अथवा अर्थव्यवस्था के सामूहिकीकरण, संसाधनों के तर्कसंगत वितरण एवं अधिसंरचनात्मक सुविधाओं के विस्तार की आवश्यकता है।
4. यह आर्थिक दृष्टिकोण किसी भी उत्पादन के साधन मुख्य रूप से भूमि की उर्वरक शक्ति के ह्रास के नियम या उत्पत्ति ह्रास के नियम का समर्थन नहीं करता है। इस सिद्धांत के अनुसार भूमि की उत्पादन क्षमता विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रयोग से बढ़ती है।
5. इस परिप्रेक्ष्य में विकास को सर्वोत्तम निरोधक माना गया है। विकास और अति जनसंख्या आंतरिक रूप से सह-संबंधित हैं तथा विकास के साथ ही जनसंख्या में कमी होती है।

❑ **समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य :** यह सिद्धांत जनांकिकीय प्रक्रियाओं और जनांकिकीय संरचनाओं को वृहद सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंगों के रूप में देखता है। इस सिद्धांत की दृष्टि में सामाजिक संस्थाएं तथा सामाजिक प्रक्रियाएं जनांकिकीय कारकों को निर्धारित करती हैं। जनांकिकीय कारक कई सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों द्वारा अनुकूलित हो : हैं। इस सिद्धांत में किसी एक कारक को प्रधा ।

नहीं दी गई है। इस सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य माल्थसवादी और मार्क्सवादी दोनों उपागमों से असहमत है।
2. यह एक संपूर्ण सिद्धांत है क्योंकि यह जनसंख्या की समस्या को संपूर्णता से देखता है जिसमें कई सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारक जनांकिकीय कारकों से जुड़े होते हैं। उदाहरणस्वरूप, पारिवारिक संरचना में किसी प्रकार के परिवर्तन से प्रजनन व्यवहार तथा जनसंख्या की संरचना में उसी अनुपात में परिवर्तन उत्पन्न होगा। अत: कुछ निश्चित संस्थागत प्रतिमान जनसंख्या की उच्च या निम्न वृद्धि-दर के लिए उत्तरदायी होते हैं।
3. इस दृष्टिकोण के अनुसार, जनसंख्या की समस्या समाज में उच्च जन्म-दर एवं बड़े परिवार को आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमान माने जाने की परंपरा से भी जुड़ी हुई है।
4. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण विश्लेषण का एक प्रासंगिक ढांचा प्रदान करता है क्योंकि यह सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों पर अधिक बल देते हुए जनांकिकीय तथा आर्थिक कारकों की भूमिका की उपेक्षा नहीं करता है। यह जनसंख्या की समस्या को संपूर्णता से देखता है।

भारतीय स्थिति को समझने हेतु समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को अधिक उपयुक्त माना गया है। भारत एक परंपरागत समाज है जिसके सामाजिक-सांस्कृतिक घटक इसकी सावयवी संरचना में गहरे निहित हैं। यदि हम आज तक के प्राचीन भारतीय समाज के सांस्कृतिक प्रतिमानों का परीक्षण करें तो पाएंगे कि बच्चों की अधिक संख्या को सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से वांछित माना जाता रहा है। इन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक संपत्ति माना जाता है। परंपरागत मान्यता भारत में बृहत परिवार आकार एवं उच्च जन्म-दर को सांस्कृतिक रूप से प्रोत्साहित करती रही है। सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में उपयुक्त परिवर्तन करके छोटे परिवार के मानदंड को स्वीकृति दिलाकर जनसंख्या नियंत्रण को सुगम बनाया जा सकता है। इस उपागम के प्रवर्तकों ने इन परिवर्तनों को लाने हेतु तीव्र आर्थिक विकास की सिफारिश की है।

❑ **ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य** : इस परिप्रेक्ष्य को जनांकिकीय संक्रमण के त्रि-स्तरीय प्रारूप के रूप में भी जाना जाता है। 'प्राचीन' एवं 'मध्यकालीन' से 'आधुनिक' चरण के संक्रमण के तीन सुपरिभाषित चरणों के माध्यम से यह परिप्रेक्ष्य सामाजिक-जनांकिकीय परिवर्तनों की सामान्यीकृत व्याख्या प्रस्तुत करता है। ये तीनों चरण परिवर्तनों की उद्विकासीय शृंखला में सरल से जटिल तथा उच्च से निम्न जन्म एवं मृत्यु-दर को इंगित करते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य की प्रमुख विशेषताएं हैं :

1. यह सामाजिक-आर्थिक, वैज्ञानिक तथा जनांकिकीय परिवर्तनों की उद्विकासीय शृंखला को स्पष्ट करता है।
2. यह परिवर्तन सरल से जटिल तथा उच्च से निम्न जन्म एवं मृत्यु-दर के समान प्रतिमानों के परिवर्तन का अनुसरण करता है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य सीमित आनुभविक तथ्यों के आधार पर सामान्यीकरण करता है। यह उपागम पाश्चात्य अनुभवों पर आधारित होने के कारण भारतीय स्थिति के तार्किक एवं तथ्यगत विवेचन के लिए उपयोगी हो यह आवश्यक नहीं है।

भारत की जनसंख्या नीति

हम जानते हैं कि चीन की जनसंख्या विश्व में सबसे अधिक है और भारत दूसरे स्थान पर है। अगर हम

भारत और चीन के साथ अफ्रीका को जोड़ते हैं तो पाते हैं कि विश्व की आधी जनसंख्या इन तीनों क्षेत्रों में निवास करती है। जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के सार्थक प्रयत्नों के बावजूद, भारत की जनसंख्या एक अरब की सीमा को पार कर चुकी है। जनसंख्या संबंधी अनुमान के अनुसार भारत की जनसंख्या मार्च 2011 तक एक अरब, सत्रह करोड़, नवासी लाख तथा मार्च 2016 तक एक अरब, छब्बीस करोड़, पैंतीस लाख हो सकती है। भारत में जनसंख्या वृद्धि से इसके संसाधनों पर प्रतिकूल प्रभावों के बोध ने जनसंख्या नियंत्रण के प्रति सतर्क प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया है। भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना में जनसंख्या वृद्धि को कम करने संबंधी प्रयत्न किए गए। सन 1966 में परिवार नियोजन संबंधी एक पृथक विभाग का गठन हुआ और इस कार्यक्रम में गति आई। इसी समय यह कार्यक्रम शिशु स्वास्थ्य, शिशु पोषण तथा समाज कल्याण सेवाओं का संयुक्त पैकेज बना। तत्पश्चात वर्ष 1975-76 के दौरान एक सुस्पष्ट राष्ट्रीय जनसंख्या नीति का निर्माण किया गया जिसमें जन्म-दर कम करने, जनसंख्या वृद्धि कम करने तथा आर्थिक, सामाजिक और अन्य जनांकिकीय लक्ष्यों को पूरा करने संबंधी उद्देश्यों के उपयुक्त क्रियान्वयन हेतु नियम बनाए गए। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 1976 जीवन के इन सभी पहलुओं के विस्तृत क्षेत्र को प्रस्तुत करती है।

इसके अनुसरण में तथा ज्ञान, मनोवृत्ति एवं व्यवहार (कैप-KAP) के सर्वेक्षण के प्रकाश में यह प्रस्ताव लाया गया कि युवा शिक्षार्थी के मन में भारत की जनसंख्या की समस्या के प्रति जागरूकता पैदा करने हेतु जनसंख्या शिक्षा को आरंभ करने संबंधी कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए। विद्यालय के स्तर पर जनसंख्या शिक्षा के कार्यक्रम को निरूपित करने एवं विस्तारित करने का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् को सौंपा गया।

परिवार नियोजन कार्यक्रम के सीमित बोध ने कार्यक्रम के क्षेत्र में आवश्यक परिवर्तन हेतु प्रेरित किया। अत: कार्यक्रम का नया नाम 'परिवार कल्याण कार्यक्रम' रखा गया। इसके अंतर्गत मानव कल्याण के सभी प्रमुख क्षेत्रों को शामिल किया गया। 1983 के परिवार कल्याण कार्यक्रम में छोटे परिवार के मानदंड को प्राप्त करने पर बल दिया गया। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 में भी छोटे परिवार के मानदंड पर पुन: ज़ोर दिया गया। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 में जनसंख्या को स्थिर रखने का संकल्प फिर से लिया गया। साथ ही जनसंख्या वृद्धि रोकने का लक्ष्य राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अपेक्षाओं के अनुकूल रखा गया। जनसंख्या नीति, 2000 के इन तमाम प्रयत्नों के बावजूद भारत में जनसंख्या वृद्धि में प्रभावी रूप से कमी नहीं लाई जा सकी। दीर्घकालिक उद्देश्यों के अनुसरण में कई मध्यकालिक और अल्पकालिक उद्देश्यों को निरूपित किया गया है। इनके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं :

1. अशोधित जन्म-दर, कुल प्रजनन-दर, अशोधित मृत्यु-दर के साथ-साथ मातृ-मृत्यु-दर को विकास को संपोषित करने लायक स्तर तक कम करना।
2. बुनियादी प्रजनन और शिशु स्वास्थ्य देख-भाल की सुविधाएं देना।
3. जनसंख्या शिक्षा के प्रसार पर विशेष बल देते हुए पूरे देश में 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए विद्यालयी शिक्षा को अनिवार्य बनाना।
4. विवाह की आयु को बढ़ाना तथा बाल विवाह प्रतिबंध अधिनियम, 1976 को कठोरता से लागू करना।
5. बच्चों के लिए सर्वव्यापक प्रतिरक्षण कार्यक्रम के लक्ष्य को प्राप्त करना।
6. प्रजनन को कम करने संबंधी उपायों की सूचना, परामर्श और सेवाओं को सर्वत्र पहुंचाना।

7. एड्स (Acquired Immuno Difficiency Syndrome) के प्रसार को नियंत्रित करना तथा कई अन्य संक्रामक रोगों को प्रतिबंधित और नियंत्रित करना।
8. प्रजनन और शिशु स्वास्थ्य सेवा को भारतीय चिकित्सा पद्धति में एकीकृत करना।
9. कुल प्रजनन-दर को प्रतिस्थापन स्तर तक लाने हेतु छोटे परिवार के मानदंड को सशक्तता के साथ बढ़ावा देना।
10. जनसंख्या के जन केंद्रित कार्यक्रम के विचार को बढ़ावा देना तथा सामाजिक विकास और रूपांतरण की समस्त प्रक्रिया का एक अंग बनाना।

जनसंख्या वृद्धि से संबंधित पहले के कार्यक्रमों में प्रजनन नियंत्रण पर बल दिया जाता था, किंतु राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 में सुझाए गए उपायों में एक अधिक एकीकृत उपागम को अपनाया गया है। यह एक सुनिश्चित परिवर्तन है जिसमें गरीबी निवारण तथा आर्थिक और सामाजिक उत्थान हेतु पर्याप्त सुविधाओं का प्रावधान किया गया है। जनसमुदायों की संपूर्ण सामाजिक-आर्थिक प्रगति वास्तव में जनसंख्या स्थिरीकरण कार्यक्रम का एक आवश्यक पक्ष मानी जाती है। यह पाया गया है कि सामाजिक विकास जीविका निर्वाह के स्तर से सामंजस्य रखते हुए जनसंख्या वृद्धि की स्थिरता को प्राप्त करने की आधारभूत आवश्यकता है।

शब्दावली

अंकगणितीय अनुक्रम - संख्याओं का एक क्रम जिनमें से प्रत्येक अपनी अपरिवर्तनीय विशेषता के कारण दूसरे से भिन्न होती है, जैसे 1, 2, 3, 4,5 इत्यादि।

अशोधित जन्म-दर - एक वर्ष में प्रति हज़ार व्यक्ति जन्मों की संख्या।

अशोधित मृत्यु-दर - एक वर्ष में प्रति हज़ार व्यक्ति मृतकों की संख्या।

निर्भरता अनुपात - कार्यकारी जनसंख्या पर निर्भर जनसंख्या की संख्या।

स्त्री-पुरुष अनुपात - प्रति 1000 पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या।

ज्यामितीय अनुक्रम - संख्याओं का ज्यामितीय सिद्धांत के अनुसार बढ़ना, जैसे – 2, 4, 8, 16, 32 इत्यादि।

शिशु (एक वर्ष से कम)-मृत्यु-दर - एक वर्ष में प्रति हज़ार जीवित जन्मे शिशुओं में मृत शिशुओं की संख्या।

जीवन प्रत्याशा - किसी प्रदत्त आयु के संदर्भ में प्रत्याशित आयु का औसत वर्ष।

मातृ-मृत्यु-दर - प्रति एक हज़ार जीवित शिशुओं को जन्म देते समय माताओं की मृत्यु की संख्या।

सकल प्रजननता-दर - संयुक्त राष्ट्र, विश्व जनसंख्या परिदृश्य, 1992 संशोधन के अनुसार एक स्त्री अगर अपनी प्रजनन आयु के अंत तक जीवित रहती है और नियमित रूप से संतान उत्पन्न करती है तो उसकी संतानों की कुल संख्या को सकल प्रजननता-दर कहते हैं।

कैप - ज्ञान, प्रवृत्ति, व्यवहार। सन 1960-1970 के मध्य परिवार नियोजन कार्यक्रम को सफल बनाने हेतु भारत सरकार ने 'कैप' (KAP–Knowledge अर्थात जानकारी, Attitude अर्थात मनोवृत्ति तथा Practice अर्थात अभ्यास) आधारित अभियान चलाया था।

अभ्यास

1. सामाजिक जनांकिकी से आप क्या समझते हैं ?
2. औपचारिक तथा सामाजिक जनांकिकी की अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए।
3. हमारे देश में निर्भरता अनुपात अब भी उच्च क्यों है ?
4. जनसंख्या के माल्थसवादी उपागम की क्या-क्या विशेषताएं हैं ?
5. जनसंख्या के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं ?
6. जनसंख्या के समाजशास्त्रीय सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं ?
7. जनसंख्या के ऐतिहासिक उपागम की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं ?
8. राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 की प्रमुख विशेषताएं क्या-क्या हैं ?
9. निम्नलिखित परिभाषित शब्दों की व्याख्या कीजिए :
   (क) स्त्री-पुरुष अनुपात
   (ख) कुल प्रजनन-दर
   (ग) मातृ-मृत्यु-दर
   (घ) शिशु-मृत्यु-दर
10. प्रवसन क्या है ? प्रवसन के प्रकार एवं प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- बोस, आशीष, ***पॉपुलेशन इन इंडियाज़ डवलपमेंट (1947-2000)***, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली, 1947
- डेविस, के., ***द पॉपुलेशन ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान***, रसेल एण्ड रसेल, न्यूयॉर्क, 1952
- डिसूज़ा, विक्टर एस., ***इकोनॉमिक डवलपमेंट, सोशल स्ट्रक्चर एंड पॉपुलेशन ग्रोथ***, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1985
- हक, एहसानुल, ***चेंजिंग इंस्टीट्यूशनल पैटर्न एंड फर्टीलिटी डिक्लाइन इन इंडिया***, जर्नल ऑफ सोशल चेंज, वोल्यूम II, नंबर 384, 1981
- मम्दानी, म., ***द मिथ ऑफ पॉपुलेशन कंट्रोल***, मंथली रीव्यू प्रेस, लंदन, 1972
- मेंडलबॉम, डी.जी., ***ह्यूमन फर्टीलिटी इन इंडिया***, बर्कले यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले, 1974
- सिंह, जे.पी., (सं.), ***स्टडीज़ इन सोशल डेमोग्राफी***, एम.डी. प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

अध्याय 3

ग्रामीण-नगरीय विभाजन एवं संयोजन

भूमिका

प्रत्येक व्यक्ति न केवल एक परिवार से अपितु समुदाय से भी संबंध रखता है। समुदाय का भाव अपने पास-पड़ोस से आरंभ होकर कुछ अंश तक 'हम-भावना' से सामाजिक वर्ग तक फैलता है। समुदाय में सामाजिक पूर्णता एवं क्षेत्र-सामीप्य की विशेषताएं पाई जाती हैं।

गांवों में रहना सभी मानव समाजों की एक चिरकालीन विशेषता रही है जो मानव सभ्यता के उदय काल से परिलक्षित होती है। ग्रामीण समुदाय एक प्रकार का विस्तृत प्राथमिक समूह है और इसकी विशेषता यह होती है कि यह घनिष्ठ आमने-सामने के संबंधों पर आधारित होता है। इसमें न्यूनाधिक सामुदायिक भावना होती है एवं यह अपेक्षाकृत एक स्वायत्त संगठन है। नगरीय समुदाय लोगों का एक खुला संगठन है जिसमें व्यक्ति एक सीमित क्षेत्र में रहते हैं, जहां जनसंख्या-घनत्व अपेक्षाकृत अधिक होता है तथा अंतर संचरण भी अधिक होता है। नगरीय जीवन जटिल सामाजिक शक्तियों का प्रतिफल होता है। ये सामाजिक शक्तियां जनसंख्या के संवेग, ग्रामीणों के आप्रवास, संचार एवं यातायात के साधनों के विकास, व्यापारिक केंद्रों की अत्यधिक वृद्धि और औद्योगीकरण के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं। अमेरिका के मानवशास्त्री रॉबर्ट रैडफील्ड प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने समुदायों का सुव्यवस्थित अध्ययन किया। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि समाजों को एक निरंतरता के आधार पर व्यवस्थित किया जा सकता है तथा ये अपनी बढ़ती एवं घटती जटिलता के आधार पर सरल से जटिल की ओर अग्रसर होते हैं।

आधुनिक समाज में ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों के बीच बहुत अंतर है। पाश्चात्य विचारक गांव एवं नगर के अंतर पर विशेष बल देते हैं जहां नगरों को ग्रामों से श्रेष्ठ माना जाता है। पश्चिमी समाजों में देहात अधिकांश रूप से आर्थिक रूप से कमज़ोर, विशेषज्ञता और कौशल में निम्न थे और मुख्यत: नगरों पर आश्रित थे। दूसरी तरफ अंग्रेज़ी शासन के पूर्व भारतीय ग्रामीण समाज अपेक्षाकृत शक्तिशाली एवं स्वतंत्र थे और ग्रामीण लोग अनेक व्यवसायों एवं कलाओं में दक्ष थे।

भारत में नगरीय क्षेत्रों का निर्धारण राज्य सरकारों द्वारा होता है और इसके लिए विभिन्न राज्यों ने भिन्न-भिन्न मानदंडों का प्रयोग किया। ये सांविधिक शहर कहलाते हैं तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए शहरी विकास मंत्रालय से अनुदान प्राप्त करते हैं। इन शहरों का शासन अलग प्रकार की इकाइयां जैसे नगरपालिका, अधिसूचित क्षेत्रीय समिति अथवा निगम के द्वारा होता है।

सांविधिक शहरों के अलावा जनगणना के आधार पर भी शहरों को परिभाषित किया जाता है। जनगणना भारतीय क्षेत्र को दो वृहत समूहों में विभाजित करती हैं -- ग्रामीण एवं नगरीय केंद्र। यह वर्गीकरण अध्ययन

के लिए किया जाता है एवं इसका कानूनी या प्रशासनिक आशय नहीं होता है। ये जनगणना निदेशालयों द्वारा स्वीकृत होते हैं। इसके अतिरिक्त, जनगणना अधिकारियों ने अपने अलग मानदंड निर्मित कर रखे हैं जिनके आधार पर वे किसी सांविधिक क्षेत्र को शहर अथवा कस्बा घोषित करते हैं। ये शर्तें निम्न हैं:

1. न्यूनतम जनसंख्या 5000 या उससे अधिक हो।
2. कम-से-कम 75 प्रतिशत वयस्क पुरुष जनसंख्या गैर-कृषि कार्यों में लगी हो।
3. जनसंख्या-घनत्व कम-से-कम 400 व्यक्ति प्रति किलोमीटर हो।

आवास के प्रकार

भारतीय जनगणना आकार एवं जनसंख्या के घनत्व के आधार पर तीन प्रकार के आवासों का निर्धारण करती है : नगर, कस्बा एवं गांव।

1. वह आवास जिसकी जनसंख्या 1,00,000 या अधिक हो वह नगर कहलाता है।
2. एक कस्बे की जनसंख्या 5,000 या इससे अधिक होनी चाहिए तथा गांवों की जनसंख्या 5,000 से कम होनी चाहिए।
3. नगर की स्थानीय शासन व्यवस्था नगरपालिका तथा गांव की ग्राम पंचायत कहलाती है।

नगर एवं शहरों को एक साथ नगरीय वर्ग में तथा शेष आवासों को ग्रामीण वर्ग में रखा गया है। नगर के मानदंड हैं : आकार, घनत्व, व्यवसाय-संरचना तथा प्रशासनिक व्यवस्था।

ग्रामीण समुदाय

भारत में गांवों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। भारत को आधुनिक काल में गांवों के माध्यम से समझा जा सकता है। ग्रामीण परिवेश भारतीय परंपरा को संयोजित किए हुए हैं एवं इसका अपना सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक महत्त्व है। इसके अपने कुछ निजी लक्षण हैं।

ग्रामीण समुदाय की विशेषताएं : भारतीय ग्रामीण समुदाय की विशेषताएं नगरीय समुदायों एवं केंद्रों से भिन्न हैं। भारतीय गांवों की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. **कृषि :** उत्पादन का मुख्य आधार कृषि है। कृषि मात्र उत्पादन का तरीका ही नहीं है बल्कि जीवन शैली भी है। ग्रामीण परिवेश के सभी संबंध कृषि द्वारा प्रभावित होते हैं। जनसंख्या का एक छोटा भाग जीविकोपार्जन के लिए कृषि के अलावा दूसरे व्यवसायों पर भी निर्भर होता है परंतु उनका व्यवसाय अप्रत्यक्ष रूप से कृषि से संबंधित होता है। कृषक अर्थव्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार होती है।
2. **संयुक्त परिवार :** भारतीय ग्रामीण जीवन की एक प्रमुख विशेषता उसका संयुक्त परिवार है। यद्यपि संयुक्त परिवार नगरों में भी पाए जाते हैं, परंतु इनका महत्त्व सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से गावों में अधिक होता है।
3. **जाति :** जाति व्यवस्था हमेशा भारतीय ग्रामीण समुदाय का आधार रही है। सामाजिक अंतःक्रिया, धार्मिक अनुष्ठान, व्यवसाय एवं अन्य बातें काफी सीमा तक जाति के मानकों से प्रभावित होती हैं। आज भी यह ग्रामीण जीवन में सामाजिक संस्तरण का मुख्य आधार है।
4. **जजमानी व्यवस्था :** जजमानी व्यवस्था ऐसी व्यवस्था थी जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक बंधन दूसरे जातिगत परिवारों से संबद्ध होते थे। प्रत्येक गांव मुख्यतः दो बड़े समूहों में विभाजित था – जजमान एवं सेवाएं उपलब्ध कराने वाली जातियां। सेवा उपलब्ध

कराने वाले सामान्यत: अन्न अथवा नकद पैसे प्राप्त करते थे। शुभ अवसरों एवं त्योहारों पर उन्हें इसके अलावा पारिश्रमिक मिलता था। यह जजमानी व्यवस्था विभिन्न जातियों को एक वंशानुगत एवं स्थायी संबंधों में बांधे रखती थी। जजमान मुख्यत: उच्च जाति से थे, जैसे – ब्राह्मण, राजपूत, पटेल, पटनायक, मराठा, रेड्डी, लिंगायत, नायर इत्यादि जबकि सेवा प्रदान करने वाली जातियों में मध्यम एवं छोटी जाति के लोग थे जैसे नाई, कुम्हार, लोहार, सुनार, बढ़ई, तमोली, धोबी इत्यादि।

5. **पंचांग** : अधिकांश गांवों में लोग समय का संगठन परंपरागत भारतीय पंचांग के अनुसार करते हैं जो घनिष्ठ रूप से सामाजिक-सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन से जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी पंचांग भी परंपरागत पंचांग के साथ देखे जा सकते हैं परंतु दिन-प्रतिदिन के जीवन में इनका प्रयोग बहुत कम होता है।

6. **सामुदायिक भावनाएं** : यह बहुत शक्तिशाली होती हैं क्योंकि ग्रामीणों के मध्य संबंध घनिष्ठ एवं व्यक्तिगत होते हैं ।

7. **सादा जीवन** : यह ग्रामीण जीवन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यहां अपराध और पथ-भ्रष्ट व्यवहार जैसे चोरी, हत्या, दुराचार इत्यादि बहुत कम होते हैं क्योंकि ग्रामीणों में बहुत सान्निध्य होता है। वे भगवान से भय खाते हैं तथा परंपरावादी होते हैं। वे नगरीय जीवन के चकाचौंध एवं मोह से कम प्रभावित होते हैं तथा साधारण जीवन व्यतीत करते हैं। उनके व्यवहार एवं क्रियाकलाप गांव की प्रथाओं, रूढ़ियों एवं जनरीतियों से संचालित होते हैं।

8. **गरीबी एवं अशिक्षा** : ग्रामीण जीवन में गरीबी एवं अशिक्षा दीर्घकाल से चली आ रही है। अलाभदायक भूमि का अधिग्रहण और वितरण, बंजर एवं विखंडित भूमि खराब उत्पादन देती है फलस्वरूप, ग्रामीण जनसंख्या का एक बड़ा प्रतिशत गरीबी रेखा के नीचे रहता है और ये लोग मौलिक सुविधाओं से भी वंचित हैं। मौलिक नागरिक सुविधाएं, स्वास्थ्य सुविधाएं, आवागमन एवं संचार सुविधाएँ आदि इन्हें कठिनाई से उपलब्ध होती हैं। अनेक सरकारी योजनाओं एवं ग्रामीण विकास प्रयासों के बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी विद्यमान है और कृषि की उत्पादकता एवं दूसरे आर्थिक क्रियाकलाप गांवों में निम्न स्तर के हैं।

9. **मंद गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन** : भारत में अधिकांश ग्रामीण समुदायों की एक मुख्य विशेषता गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन की धीमी गति रही है। व्यवसाय में परिवर्तन बहुत आसानी से संभव नहीं है। ग्रामीण स्वभाव से रूढ़िवादी होते हैं और इनके सोचने का आधार, नैतिक मूल्य, परंपराएं आदि रूढ़िवाद पर आधारित होती हैं। अधिकांश ग्रामीण परिवर्तन एवं सुधार को शीघ्रता से स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया भारतीय ग्रामीण परिवेश में बहुत धीमी रही है।

10. **सामाजिक नियंत्रण की कठोरता** : अनौपचारिक रूप से सामाजिक नियंत्रण में प्राथमिक संस्थाओं, जैसे – परिवार, जाति, धर्म इत्यादि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है जो बहुत शक्तिशाली एवं प्रत्यक्ष होती है। सदस्यों के लिए इन अनौपचारिक नियमों का पालन आवश्यक होता है। इन नियमों की किसी भी प्रकार की अवहेलना की संभावना नगण्य होती है एवं अवहेलना की कठोरता से आलोचना होती है

तथा इसके लिए लोगों को पंचायत द्वारा दंडित किया जाता है।

नगरीय समुदाय

नगरीय समुदाय एवं केंद्र विभिन्न प्रकार के होते हैं। आकार की विभिन्नता के बावजूद भी कुछ निश्चित लक्षण अधिकांश पारंपरिक नगरीय समुदायों में सामान्य रूप से पाए जाते हैं। पारंपरिक नगर प्राय: बड़ी-बड़ी दीवारों से घिरे रहते थे, ये किले रूपी दीवारें नगरीय समुदाय को ग्रामीण समुदाय से पृथक करती थीं। केंद्रीय क्षेत्र प्राय: एक विशाल सार्वजनिक स्थल होता था और कभी-कभी दूसरी आंतरिक दीवार से घिरा रहता था जो बाज़ार का काम करती थी। मुख्य भवन मुख्यत: धार्मिक अथवा राजनीतिक स्वरूप के होते थे जैसे मंदिर, मस्जिद, चर्च, राजमहल एवं अदालत। प्रशासक एवं कुलीन वर्ग के आवास मुख्यत: केंद्र अथवा उसके समीप होते थे तथा साधारण जनता नगर की परिधि के आस-पास निवास करती थी। केंद्रीय क्षेत्र, जहां उत्सवों के अवसर पर लोग जमा होते थे, वहां सारे लोग आसानी से एक साथ बैठ सकते थे।

नगरों के विस्तार का मुख्य कारण जनसंख्या वृद्धि और बाहरी लोगों का दूसरे गरीब देशों से आप्रवास था।

डेविड पोकोक ने बल देकर कहा है कि भारत में गांवों एवं पारंपरिक नगरों में कोई विभाजन नहीं है। दोनों एक समान सभ्यता के तत्त्व हैं, यद्यपि पारंपरिक भारतीय नगरों एवं उपनिवेशिक भारतीय नगरों में बहुत सी विभिन्नताएं विद्यमान हैं। जहां पारंपरिक भारतीय नगर भारतीय सभ्यता के दृष्टिकोण से देखे जाते हैं वहीं औपनिवेशिक भारतीय नगर पाश्चात्य अथवा आधुनिकता के प्रभावों के वाहक हैं। दोनों प्रकार के नगर एक साथ दो अंगों के रूप में एक ही नगर संस्थिति के रूप में अस्तित्व में रह सकते हैं, उदाहरणस्वरूप पुरानी दिल्ली और नई दिल्ली। यह कुछ समाजशास्त्रियों का सुव्यवस्थित रूप से प्रतिकार करते हैं जिनका मानना है कि भारत में नगरीकरण का तात्पर्य जाति व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार के विखंडन से है। उनका यह भी मानना है कि भारतीय संदर्भ में नगरीकरण का तात्पर्य पश्चिमीकरण नहीं है।

दूसरी तरफ एम.एस.ए. राव का मानना है कि पोकोक ने भारतीय गांवों एवं पारंपरिक नगरों में समानता को कुछ अधिक ही सरल कर दिया है। गांव एवं नगरों की संस्था में संगठनात्मक एवं क्रियात्मक विभिन्नताएं हैं। उदाहरणस्वरूप जहां गांवों में जजमानी व्यवस्था होती है वहीं पारंपरिक नगरों में महाजन अथवा शिल्पसंघ प्रमुख हैं। दूसरे, यद्यपि जाति एवं सगोत्रता गांवों और प्राचीन भारतीय नगरों में आम थी तथापि उनके संगठनात्मक स्वरूप में महत्त्वपूर्ण अंतर थे। तीसरे, यह दर्शाना आवश्यक है कि पैक्स ब्रिटैनिका (Pax Britannica), ने भारतीय जीवन में अलग प्रकार की नगरीयता और नगरीकरण का परिचय कराया। इस नगरीकरण का प्रभाव पारंपरिक नगरों पर पड़ा। इस प्रकार की पारस्परिक क्रिया से ग्रामीण एवं नगरीय परिवेश के संदर्भ में एक नए संयुक्त पारिवारिक संगठन की निरंतरता देखी जा सकती है। नगरीय संदर्भ में संयुक्त परिवारों के स्वामित्व (संपत्ति) के संबंधों एवं पारस्परिक व्यक्तिगत व्यवहारों में अंतर है। नगरों एवं गांवों के बीच अंत:क्रियाएं विभिन्न प्रकार एवं श्रेणी की हैं।

नगरीय समुदाय की विशेषताएं : समकालीन भारत में नगरीय समुदायों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **सामाजिक विषमता :** एक बड़ी जनसंख्या का छोटे क्षेत्र में केंद्रीकरण सामाजिक विषमता को प्रेरित करता है। जनसंख्या-घनत्व क्षेत्र एवं अपेक्षित

लाभ के लिए प्रतियोगिता को प्रेरित करता है तथा इसके फलस्वरूप विशिष्टीकरण के बलों में वृद्धि होती है। नगर हमेशा से ही एक ऐसे बर्तन के समान रहा है जिसमें विभिन्न प्रकार के लोगों एवं संस्कृतियों का मिलन होता है। यह विश्व के विभिन्न भागों से लोगों को आकर्षित करता है एवं उन्हें न केवल सहन करता है बल्कि व्यक्तिगत अंतरों को पुरस्कृत भी करता है।

2. **सामाजिक नियंत्रण :** नगर में व्यक्ति प्राय: सघन सामाजिक नियंत्रण से मुक्त होते हैं। विलगाव एवं अकेलापन नगरीय जीवन की देन है। द्वितीयक संस्थाएं न्यायिक अस्तित्व अथवा सत्ता अथवा दबाव वर्ग के रूप में कार्य करती हैं। बड़े नगरों में नियंत्रण की समस्या भी बढ़ जाती है एवं नियंत्रण के साधन द्वितीयक एवं जटिल हो जाते हैं।
3. **स्वैच्छिक संस्थाएं :** नगरीय जनसंख्या-घनत्व व आकार, विभिन्नताएं और सहज संपर्क ऐसे कारक हैं जो स्वैच्छिक संस्थाओं के लिए एक पूर्ण अथवा आदर्श स्थान बनाते हैं। नगरों में सभी द्वितीयक समूह एक प्रकार की स्वैच्छिक विशेषता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के समूह में सदस्यता रिश्तेदारी एवं प्रदत्त प्रस्थिति पर निर्भर नहीं करती है। नगरों में विभिन्न प्रकार के क्लब, संस्थाएं एवं स्वशासित संगठन पाए जाते हैं।
4. **व्यक्तिवाद :** नगरीय संगठन का द्वितीयक एवं स्वैच्छिक स्वरूप, अवसरों की बहुलता एवं सामाजिक गतिशीलता, व्यक्ति को बाध्य करते हैं कि वह अपना निर्णय स्वयं ले एवं अपने भविष्य को नियोजित करे। नगरीय जीवन की प्रतियोगिताएं पारिवारिक देखभाल एवं वचनबद्धता के बहुत कम अवसर देती हैं जो पारंपरिक समुदायों में पाया जाता है। फलस्वरूप स्वार्थ एवं व्यक्तिवाद को नगरीय जीवन में बढ़ावा मिलता है।
5. **सामाजिक गतिशीलता :** नगर सामाजिक गतिशीलता को चरितार्थ एवं प्रोत्साहित करते हैं। नगरों में जो विस्तृत श्रम का विभाजन होता है वह एक प्रकार का योजनाबद्ध विभाजन है एवं यह किसी व्यक्ति की उपलब्धि पर निर्भर करता है न कि प्रदत्त प्रस्थिति पर। अपने जीवन काल में ही नगरीय व्यक्ति अपने प्रयासों से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा व घटा सकता है। प्रतिष्ठा के लिए प्रतियोगिता नगरवासियों के लिए एक अंतहीन कार्य बन जाता है। नगरीय संगठन एक विजातीय जनसंख्या जिसको क्षमता, दक्षता एवं नवीनता के आधार पर चुना जाता है, के द्वारा संचालित होती है। यह एक खुले वर्गीकरण को प्रोत्साहन देता है जिसकी विशेषता विजातीयता होती है।
6. **अत्यधिक असमानता :** नगरीय जनसंख्या की विभिन्नता एवं अवैयक्तिक संबंधों को ध्यान में रखते हुए नगरों में विचारों एवं रुचियों के विषय में एक निश्चित सीमा तक सहिष्णुता पाई जाती है। नगरों में एक निश्चित सीमा तक बाह्य समरूपता, शिष्टाचार एवं सुविधा होती है। नगरीय क्षेत्रों में अत्यधिक गरीबी एवं समृद्धि दोनों ही पाई जाती हैं। नगरीय समुदाय में झुग्गी-झोंपड़ी एवं अभिजात क्लब अत्यधिक विषमता के मुख्य उदाहरण हैं।
7. **स्थानिक वियोजन :** विषमतापूर्ण एवं क्रियाशील नगर में स्थान के लिए प्रतियोगिता एक प्रकार के पृथक्करण को जन्म देती है जो वर्ग एवं क्रियाओं के आधार पर होता है एवं इसका स्वरूप स्थानिक होता है। मौलिक महत्त्वों के क्रियाकलापों का नगरीय क्षेत्र के केंद्र पर एकाधिकार हो जाता

है जैसे वित्त एवं शासन संबंधी क्रियाकलाप। व्यावसायिक केंद्र खर्चीले शौकों की पूर्ति करते हैं। उदाहरणस्वरूप, बड़ी विभागीय दुकानें, थियेटर, बड़े होटल, आभूषण की दुकानें इन्हीं केंद्रों में स्थापित होती हैं। अत्यधिक महंगी व्यावसायिक सेवाएं, जैसे – डायग्नोस्टिक क्लिनिक, कानूनी दफ्तर, बैंक इत्यादि भी नगर के केंद्रीय भाग में ही पाए जाते हैं।

ग्रामीण-नगरीय विभाजन एवं संयोजन

इससे पहले कि हम इनकी विषमता का अध्ययन करें, नगरीय एवं ग्रामीण समुदाय का एक तुलनात्मक विश्लेषण आवश्यक है, लेकिन यह तुलना बहुत सरल नहीं है।

पहली महत्त्वपूर्ण बाधा यह है कि किसी भी विधि या मापदंड से यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि कहां गांव की सीमा समाप्त होती है एवं कहां से नगर आरंभ होता है। दूसरे, एक गांव एवं नगर में विभिन्नता एक श्रेणी है न कि प्रकार। तीसरे, अधिकांश कारक जो परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं गांवों एवं नगरों में काम करते रहते हैं। चौथे, भारतीय गांव की अवधारणा पश्चिमी देशों के गांवों की अवधारणा से पूर्णतया भिन्न है।

ग्रामीण-नगरीय अंतरों को सोरोकिन एवं जिम्मरमैन ने निम्नलिखित तालिका में संक्षेप में प्रदर्शित किया है:

	ग्रामीण क्षेत्र	**नगरीय क्षेत्र**
व्यवसाय	कृषकों एवं उनके परिवारों की प्रधानता। ग्रामीण समुदायों में काफी कम लोग विभिन्न गैर-कृषि कार्यों से जुड़े होते हैं।	अधिकांश लोग मुख्यत: निर्माणाधीन, यांत्रिक, व्यापार-व्यवसाय, शासन एवं दूसरे गैर-कृषि उद्योगों से संबद्ध।
वातावरण	सामाजिक वातावरण पर प्रकृति की प्रधानता, प्रकृति से सीधा संपर्क।	प्रकृति से पृथक्करण, प्राकृतिक वातावरण पर मानव-निर्मित वातावरण की प्रधानता।
समुदाय का आकार	समुदाय का छोटा आकार, 'कृषि' एवं समुदाय के आकार में नकारात्मक अंत:संबंध।	एक ही समय और एक ही देश में नगरीय समुदाय का आकार ग्रामीण समुदाय से बड़ा होता है। दूसरे शब्दों में, नगरीयता एवं समुदाय का आकार सकारात्मक रूप से संबंधित होते हैं।
जनसंख्या का घनत्व	एक ही देश में और एक ही अवधि में जनसंख्या-घनत्व ग्रामीण परिवेश में कम होता है। सामान्यत: घनत्व एवं ग्रामीणता नकारात्मक रूप से संबंधित होते हैं।	नगरीय क्षेत्र में जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। नगरीयता एवं घनत्व सकारात्मक रूप से संबंधित होते हैं।

जनसंख्या की विजातीयता एवं सजातीयता	नगरीय जनसंख्या की तुलना में ग्रामीण जनसंख्या में अधिक प्रजातिगत एवं मनोवैज्ञानिक सजातीयता होती है। (विजातीयता से नकारात्मक रूप से संबंधित)	ग्रामीण जनसंख्या की अपेक्षा नगरीय जनसंख्या अधिक विजातीय होती है (एक ही देश एवं काल में)। नगरीयता एवं विजातीयता सकारात्मक रूप से संबंधित होती है।
सामाजिक विभिन्नता एवं स्तरीकरण	ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्नता एवं स्तरीकरण नगरों से कम।	विभिन्नता एवं स्तरीकरण का नगर से सकारात्मक अंत:संबंध होता है।
गतिशीलता	जनसंख्या की गतिशीलता के क्षेत्रीय, व्यावसायिक एवं सामाजिक रूप तुलनात्मक रूप से कम तीव्र, साधारणतया आप्रवास अधिक व्यक्तियों को गांवों से नगरों की तरफ ले जाता है।	तीव्र गतिशीलता। नगरीयता एवं गतिशीलता सकारात्मक रूप से अंत:संबंधित, केवल सामाजिक विपत्ति में ही नगरों से गांवों की तरफ प्रवसन अधिक होता है।
अंत:क्रिया की व्यवस्था	प्रतिव्यक्ति संबंधों की न्यूनता। सदस्यों की अंत:क्रियात्मक व्यवस्था का संकीर्ण दायरा, प्रारंभिक संपर्कों का आधिक्य तथा अपेक्षाकृत स्थाई सहसंबंध, संबंधों में अपेक्षाकृत अधिक सादगी और सच्चाई, मनुष्य की मानवीय रूप में स्वीकृति।	संपर्कों का आधिक्य। प्रत्येक व्यक्ति की अंत:क्रिया का व्यापक क्षेत्र, प्रतिमानित संबंधों की प्रधानता, अनिश्चित, आकस्मिक और लघुकालीन संबंधों की प्रधानता, अधिकाधिक जटिलता, बहुरूपता, संबंधों का सतही रूप, मनुष्य को 'संख्या' या 'पते' के रूप में जानना।

भारतीय ग्रामीण-नगरीय विभाजन की मुख्य विशेषताएं

1. सामाजिक संगठन

गांवों में संयुक्त परिवार साधारणतया संयुक्त घर-बार को इंगित करता है। यद्यपि नगरीय केंद्र में यह बात नहीं है। नगरों में संयुक्त परिवार के सदस्य साधारणतया एकाकी परिवार को पसंद करते हैं। रिश्तेदारी के संबंधों को मुख्यत: राजनीतिक या आर्थिक लाभ के लिए प्रयोग किया जाता है परंतु सदस्यों के निजी जीवन में ये बंधन प्राय: दुर्बल ही होते हैं।

भारत में विवाह को अखंड एवं अपरिवर्तनीय बंधन माना जाता है। यह एक धार्मिक संस्कार है। ग्रामीण परिवेश में अंतरजातीय विवाह कम ही होते हैं। नगरों में प्रेम-विवाह, अंतरजातीय विवाह एवं विवाह करने की उम्र में वृद्धि हो रही है।

ग्रामीण समाज में आस-पड़ोस पारस्परिक सहयोग, समुदाय-भाव एवं 'हम' की भावना पर आधारित होता है। अधिकांश नगरों में लोग अपने पड़ोस में रहने वालों से प्राय: संबंध नहीं रखते हैं। बढ़ते व्यक्तिवाद के कारण पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति की कमी देखी जाती है। निहित स्वार्थ और यांत्रिक प्रतिस्पर्धा इसके अन्य कारण हैं ।

ग्रामीण जीवन में सामाजिक स्थिति जाति पर आधारित होती है, जबकि नगरीय परिवेश में जाति सहवर्ती हो सकती है, परंतु वर्ग भिन्नता अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं।

2. **सामाजिक संबंध एवं अंतःक्रिया**

ग्रामीण समाज में संबंधों का संचालन प्राथमिक समूह के द्वारा होता है। वे व्यक्तिगत, अनौपचारिक एवं स्थायी होते हैं। प्रतियोगिता कम तीव्र होती है क्योंकि ग्रामीणों में भय होता है एवं वे भाग्य में विश्वास करते हैं।

नगरीय समाज में व्यक्तिगत संबंध अधिकांशतः औपचारिक एवं अवैयक्तिक होते हैं। सामुदायिक शक्ति दुर्बल होती है एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिक होती है।

3. **सामाजिक गतिशीलता**

व्यावसायिक एवं सामाजिक गतिशीलता गांवों में जाति व्यवस्था को कठोरता से संचालित करती है।

नगरीय समाज अर्जित प्रस्थिति पर अधिक बल देता है न कि प्रदत्त प्रस्थिति पर। नगरीय संरचना अधिक ऊर्ध्वगामी एवं क्षैतिजीय गतिशीलता, अवसरों के विकल्प प्रस्तुत करती है। अर्जित प्रस्थिति वर्ग पर आधारित होती है न कि जन्म पर।

4. **सामाजिक नियंत्रण**

ग्रामीण समाजों में सामाजिक नियंत्रण अनौपचारिक साधनों द्वारा किया जाता है जैसे जनरीतियां, रूढ़ियां, मानक, निषेध, उपहास इत्यादि। विचलन को जाति पंचायत अथवा गांव पंचायत की धमकी से नियंत्रित किया जाता है।

नगरीय समाज में केवल जनमत, अनौपचारिक शक्ति एवं नैतिक संरचना के आधार पर ही व्यवस्था को स्थापित नहीं किया जा सकता है। नगरीय समाज इतना जटिल होता है कि सामाजिक नियंत्रण विशेषज्ञों द्वारा प्रतिपादित होता है। यह विधायकों द्वारा निर्मित व अदालतों द्वारा संगठित होता है एवं पुलिस बल द्वारा इनका क्रियान्वयन किया जाता है। नगरीय समाज में सामाजिक नियंत्रण निरोधक की अपेक्षा सुधारात्मक होता है।

5. **सामाजिक परिवर्तन**

ग्रामीण परिवेश में बहुत कम नवीनता होती है क्योंकि यहां अवसरों एवं विशेषीकरण का अभाव होता है। नगरीय केंद्रों में नवाचार, अनुकूलन एवं अनुकरण अधिक होता है क्योंकि खुलापन अधिक अवसर उपलब्ध कराता है। ऐसे परिवर्तन सरकारी ढांचों द्वारा प्रोत्साहित होते हैं एवं नगरीय संस्थाएं इन्हें बनाए रखती हैं।

6. **सांस्कृतिक जीवन**

गांवों में सांस्कृतिक एकता होती है। सामान्य मूल्यों एवं समूह के मानदंड को उत्सवों, धार्मिक कर्मकांडों, पुरानी प्रथाओं के द्वारा शक्तिशाली बनाया जाता है। आज भी भारतीय गांव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के वाहक एवं सभ्यता की इकाई हैं। वे आज भी परंपरागत भारतीय पंचांग द्वारा संचालित होते हैं। दूसरी तरफ, नगरीय समाज में सांस्कृतिक स्वरूप गुणात्मक रूप से परिवर्तित हुए हैं।

7. **आर्थिक जीवन**

ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन का प्रमुख आधार कृषि है। कृषि आधारित कुटीर उद्योग एवं पशुपालन भी अर्थव्यवस्था का अंग होता है। नकदी फसलें, खाद्य-संस्करण एवं छोटे उद्योग भी व्यवसाय एवं आय को बढ़ाते हैं। लोगों की औसत खपत का स्तर नीचा है क्योंकि आय का स्तर नीचा है और लोगों की जीवन पद्धति सरल है।

नगरीय समाजों में औद्योगिकी ने विकास के उत्प्रेरक का कार्य किया है। नगरों में रोज़गार के अच्छे साधन उपलब्ध हैं क्योंकि यहां पर साक्षरता, गतिशीलता, विशेषीकरण एवं श्रम का विभाजन होता है। नगरीय लोगों के पास आय के अनेक स्रोत होते हैं। वे अधिकांशतः औद्योगिक क्षेत्रों एवं नौकरियों में कार्यरत हैं। नगरों की प्रौद्योगिकी एवं भौतिकतावाद ने जो कि

पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण से भी प्रभावित होते हैं, एक ऐसी संस्कृति को जन्म दिया है जो किसी व्यक्ति का मूल्य उसकी आय एवं जीवन-शैली द्वारा निर्धारित करती है और उसके आय के स्रोतों की तरफ ध्यान नहीं देती। अन्य कारकों के साथ यह भी एक कारक है जो 'काले-धन' को नगरीय केंद्रों में बढ़ावा देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गांवों एवं नगरीय समुदायों में अनेक विभिन्नताएं हैं। लेकिन यह भी याद रखा जाना चाहिए कि इन्हें कठोरता से पृथक नहीं किया जा सकता। उनके मध्य निरंतरता एवं विरोधाभास भी हैं। एस. सी. दुबे ने समकालीन भारतीय परिवेश में ग्रामीण-नगरीय विभाजन एवं संयोजन को दर्शाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि भारत गांवों की भूमि के रूप में जाना जाता है तथापि यहां की प्राचीन परंपरा में भी नगरीय केंद्र रहे हैं। यदि गांव सहयोग के क्षेत्र हैं तो संघर्ष मुक्त भी नहीं हैं। विकास की इकाई के रूप में अब गांवों में भी नगरों की भांति विभिन्न संस्थाएं विद्यमान हैं। राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि गांवों एवं नगरों दोनों में विद्यमान हैं। गांव नगरों की भांति एक निगम समूह नहीं है। इसकी स्वयं की पहचान है, निश्चित सीमाएं हैं और साझा संपदा जैसे कुएं एवं तालाब इत्यादि हैं। इसमें मंदिर, मस्जिद, चर्च एवं गुरुद्वारे भी हो सकते हैं। अधिकांश जातियां किसी पेशे अथवा शिल्प से जुड़ी हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि एक जाति के सभी सदस्य एक ही शिल्प अथवा व्यवसाय में हों। कुछ व्यवसाय ऐसे भी हैं जो 'खुले' हैं एवं कोई भी उन्हें अपना सकता है। जाति द्वारा कोई बाधा नहीं होती।

गांवों एवं नगरों के लोगों के मध्य आर्थिक-धार्मिक क्रियाएं, राजनीतिक एवं सामाजिक आदान-प्रदान होता रहता है। जाति-पंचायत नगरों में विद्यमान नहीं हैं, जो कि गांवों में हैं, परंतु नए जाति संगठन बड़े नगरों में अस्तित्व में आ गए हैं। कुछ जाति संगठन क्षेत्रीय हैं जबकि कुछ अखिल भारतीय स्तर के भी हैं। नगरों के बाजार ने जजमानी व्यवस्था को प्रतिस्थापित कर दिया है।

इस परिवर्तन की प्रक्रिया ने गांवों को एक-दूसरे से एवं नगरों से अच्छी तरह से जोड़ दिया है। यदि परंपरागत गांव एवं परंपरागत नगर एक-दूसरे के पूरक थे तो समकालीन गांव एवं नगरीय केंद्र भारतीय राज्य की पूरक इकाई हैं। पारंपरिक भारतीय सभ्यता में ग्रामीण समुदायों का महत्त्व नगरीय केंद्रों से ज़्यादा था। दोनों के कार्य अलग-अलग थे। परंपरागत भारतीय नगर संस्कृति की पूर्णता को प्रदर्शित करते थे एवं नगर या तो प्रशासनिक इकाई या धार्मिक केंद्र होते थे। भारतीय सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नगर एक प्रमुख केंद्र था। समकालीन भारतीय गांवों की भूमिका अब इस प्रकार की नहीं है। अब गांव नगरों को खाद्य, श्रम एवं कच्चे उत्पादों के आपूर्तिकर्ता हैं।

शब्दावली

समुदाय - वह जन समूह जो एक भौगोलिक क्षेत्र में वास करता है, स्वायत्त सामूहिक इकाई है और समान मूल्य एवं भावनाओं को मान्यता देता है। उदाहरणस्वरूप ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय।

व्यक्तिवादिता - ऐसा विचार जो व्यक्ति की महत्ता और उसके हितों पर बल देता है।

मेगालोपोलिस - एक वृहत महानगर जिसका आकार अबाध रूप से बढ़ रहा हो। नगरों और उपनगरों की एक वृहत इकाई जो प्रकार्यात्मक रूप से आपस में जुड़ी हुई हो।

मेट्रोपोलिस - इससे एक विशाल नगर एवं उसके चारों तरफ उपनगरों का बोध होता है, जैसे-राज्य की राजधानियां।

सामाजिक गतिशीलता - किसी भी समाज में सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न पदों के बीच की गतिशीलता।

विधिसम्मत नगर - भारत में विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा नगरीय केंद्रों को विभिन्न मापदंडों के आधार पर अधिसूचित किया जाता है। इन्हें विधिसम्मत नगर की संज्ञा दी जाती है। इनका प्रशासनिक आशय यह है कि उन्हें केंद्रीय सरकार के शहरी विकास मंत्रालय से अनुदान इसी आधार पर प्राप्त होते हैं। इन नगरों में नगर परिषद्, नगर निगम, अधिसूचित क्षेत्र समिति पाई जाती हैं।

नगरवाद - सामाजिक जीवन का वह प्रतिमान जो नगरीय समूहों में पाया जाता है, जैसे- अत्यंत विशेषीकृत श्रम विभाजन, संबंधों में व्यक्तिवाद की वृद्धि, ऐच्छिक संगठनों में वृद्धि, इत्यादि।

अभ्यास

1. ग्रामीण समुदाय की विशेषताएं बताइए।
2. नगरीय समुदाय की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. ग्रामीण-नगरीय विभिन्नताएं एवं संयोजनों की समानता और असमानता बताइए।
4. जजमानी व्यवस्था से आप क्या समझते हैं ?
5. कस्बे शहरों से किस प्रकार भिन्न हैं ?
6. नगर पालिका नगर निगम से किस प्रकार भिन्न है ?

संदर्भ-ग्रंथ

- देसाई, ए. आर., (सं.), ***रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया,*** पापुलर प्रकाशन, मुंबई, 1978
- दुबे, एस. सी., ***इंडियन विलेज,*** रूटलेज एंड किगनपाल, लंदन, 1955
- गिडिंस, एंथोनी, ***सोशियोलॉजी,*** पोलिटी प्रेस, लंदन, 1993
- उम्मन, टी. के., ***एलियन कौंसैप्ट्स एंड साउथ एशियन रिऐलिटी,*** सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1995
- राव, एम. एस. ए., (सं.), ***अरबन सोशियोलॉजी इन इंडिया,*** औरिएंट लौंगमैन, हैदराबाद, 1974
- शाह, ए. एम., ***एक्सप्लोरिंग इंडियाज़ रूरल पास्ट : अ गुजरात विलेज इन दा अरली नाइंटींथ सैंचुरी,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2002

अध्याय 4

भारत में जाति, वर्ग एवं जनजाति

भूमिका

प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में असमानता और विभेदीकरण अपरिहार्य होता है। सामाजिक विभेदीकरण व्यक्तियों को विभिन्न वर्गों, आयु, नाते-रिश्तेदारी, लिंग, क्षेत्रीय सामीप्य के आधार पर अलग करता है। समाजशास्त्रीय अर्थ में सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक व्यक्ति एवं वर्ग को विभिन्न स्तरों में जन्म, शिक्षा, व्यवसाय और आय के आधार पर विभाजित करता है।

भारत विश्व के सबसे संस्तरित समाजों में से एक है। भारत में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विभेदीकरण जाति, वर्ग और जनजातीय संस्थाओं में देखने को मिलता है। जाति मुख्यत: एक सामाजिक संस्था है जबकि वर्ग मुख्यत: एक आर्थिक संस्था है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति में आर्थिक आयाम नहीं है एवं वर्ग में सामाजिक पक्षों को नहीं देखा जाता। यह केवल प्रधानता का प्रश्न है। जाति मुख्यत: सामाजिक विभेदीकरण का प्रतिनिधित्व करती है जबकि वर्ग सामान्यत: आर्थिक विभेदीकरण का प्रतिनिधित्व करता है। ये दोनों सामाजिक एवं आर्थिक असमानता के प्रतिफल हैं और इसलिए स्तरीकरण में आते हैं।

जाति एवं वर्ग की भांति जनजाति सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार नहीं है। इनकी अपेक्षा यह सामाजिक संगठन या सामाजिक रचना का प्रकार है। विभिन्न स्तरों को प्रदर्शित करने की अपेक्षा जनजाति पूर्ण समाज को प्रदर्शित करती है। भारतीय संदर्भ में जनजाति मुख्यत: एक भाषाई, तकनीकी-सांस्कृतिक वर्ग है। इसलिए जनजाति एवं गैर-जनजाति संदर्भ एक सांस्कृतिक विभेदीकरण को प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में जनजातियों का विभिन्न अवसरों से वंचित होना ही, जिसे इन लोगों ने सहन किया है, इन्हें सामाजिक स्तरीकरण में लाता है। अब हम जाति, वर्ग एवं जनजाति का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

जाति व्यवस्था

'कास्ट' एक अंग्रेज़ी शब्द है जिसकी उत्पत्ति पुर्तगाली शब्द 'कास्टा'(Casta) से हुई है जिसका अर्थ है- समूह। जाति एक प्रदत्त समूह है जिसकी सदस्यता जन्म से निर्धारित होती है। एक व्यक्ति एक जाति में जन्म लेता है और यह परिस्थिति साधारणतया स्थाई होती है। आरंभ में यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय वर्ग एवं वर्ण की अवधारणा को जाति (Caste) का समानार्थक माना लेकिन बाद में जाति एवं उपजाति के लिए भी यही शब्द प्रयोग होने लगा। वर्तमान समय में अधिकांश समाजशास्त्री 'कास्ट' (Caste) को जाति के रूप में परिभाषित करते हैं न कि वर्ण के रूप में।

समाजशास्त्र में जाति एवं वर्ण दो भिन्न अवधारणाएं हैं। वर्ण व्यवस्था में व्यक्तियों के वर्गीकरण

की व्याख्या अमूर्त उत्पत्ति के आधार पर की जाती है, जबकि जाति एक बंद आनुभविक समूह है जो सामाजिक, धार्मिक एवं व्यावसायिक आधारों पर विभाजित होती है। जाति एक बंद एवं सामान्यत: अंत:विवाही समूह होता है जिसकी अपनी ही विशेषताएं हैं जैसे इसका वंशानुगत व्यवसाय, विवाह के नियम, खान-पान के प्रतिबंध, व्यावसायिक कठोरता और यहां तक कि आज गांव की राजनीति भी जाति के स्तर पर ही हो रही है। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार भारत में जातिगत विभिन्नताओं को वर्ण व्यवस्था के प्रारूप में देखा जाता है।

वर्ण व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता होती है। विश्वामित्र जो जन्म से क्षत्रिय थे अपने अर्जन अथवा पुरुषार्थ के बल पर ब्राह्मण बन गए। जातियों में इस प्रकार की गतिशीलता मुश्किल से ही देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त, वर्ण व्यवस्था में छुआछूत की भावना भी नहीं होती थी, यद्यपि छुआछूत जाति व्यवस्था का एक हानिकारक पक्ष साबित हुआ।

जाति व्यवस्था की विशेषताएं

भारत में परंपरागत जाति व्यवस्था की निम्न मुख्य विशेषताएं हैं :

1. **समाज का खंडात्मक विभाजन :** समाज सामान्य सामाजिक समूहों में विभाजित होता है जिसको जाति कहते हैं। इसमें से प्रत्येक जाति अपने आप में एक विकसित सामाजिक समूह है। इसकी सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। समाज का खंडात्मक विभाजन इसके अनेक समूहों में वर्गीकरण को दर्शाता है, जिसमें से प्रत्येक का अपना जीवन होता है और वह दूसरी जाति से उच्च या निम्न परिस्थितियों द्वारा संबद्ध होती है। एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन असंभव होता है। व्यावहारिक प्रतिमान, खान-पान की आदतें, बातचीत का ढंग एवं अंत:क्रिया एक जाति से दूसरी जाति में अलग होती हैं। जाति का प्रत्येक सदस्य अपनी पहचान अपनी जाति के द्वारा बनाता है। प्रत्येक जाति का स्वयं का संगठन होता है जिसे जाति-पंचायत या जाति-परिषद् के नाम से जाना जाता है। जाति के सदस्यों का पारस्परिक कर्तव्य मदद एवं सहयोग है जो कि उनके प्रतिदिन के क्रियाकलापों में देखने को मिलता है।
2. **संस्तरण :** जी.एस. घुर्ये के अनुसार प्रत्येक भाषा-संबंधी क्षेत्र में लगभग तीन सौ से अधिक जातियां पाई जाती हैं जिन्हें इनकी सामाजिक श्रेणी के आधार पर एक संस्तरण में व्यवस्थित किया जा सकता है। इस संस्तरण के शीर्ष पर ब्राह्मण जाति है जबकि सबसे नीचे दलित जातियां होती हैं। इनमें बहुत-सी मध्यवर्ती जातियां होती हैं। इस प्रकार जातियां उच्चता और निम्नता के आधार पर विभाजित होती हैं।
3. **सामाजिक अंत:क्रिया एवं खान-पान पर प्रतिबंध :** जाति में खान-पान, सामाजिक अंत:क्रिया इत्यादि के कुछ विशेष नियम हैं जिसे जाति के प्रत्येक सदस्य को मानना पड़ता है, ताकि वे अपवित्रता से बच सकें एवं पवित्रता के नियम को बनाए रख सकें। जाति-पंचायतों के द्वारा इन नियमों को कठोरता से लागू किया जाता है। मुख्य रूप से कर्म, धर्म, अनुष्ठानीय अपवित्रता की अवधारणा, धार्मिक एवं कानूनी दोनों रूपों में सामने आई है जिसका संबंध जाति व्यवस्था से है। कच्चे एवं पक्के भोजन के संबंध में भी कई प्रकार के प्रतिबंध एवं निषेध होते हैं।

4. **व्यवसाय के चुनाव में प्रतिबंध :** एक जाति की सदस्यता वंशानुगत होती है एवं व्यवसाय के चुनाव में स्वतंत्रता नहीं होती है। परंपरागत रूप से एक जाति प्राय: एक ही व्यवसाय से संबंधित होती है जिससे यह एक बंद व्यवस्था बनती है। विभिन्न जातियां अपनी सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर करती हैं। इस प्रकार यह एक सावयवी व्यवस्था बन जाती है।
5. **विवाह पर नियंत्रण :** अंत:विवाह जाति व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। एक जाति के सदस्यों को अपनी स्वयं की जाति में ही विवाह करना होता है।
6. **अंतर्निर्भरता :** गांव के स्तर पर जजमानी व्यवस्था के कारण प्रत्येक जाति एक-दूसरे पर निर्भर होती है। इनकी निर्भरता केवल आर्थिक रूप से ही नहीं बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक भी होती है।

जाति व्यवस्था के प्रकार्य

जाति व्यवस्था को भारत के परंपरागत सामाजिक संगठन को बनाए रखने का श्रेय जाता है। इस व्यवस्था ने अधिकांश समुदायों को जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध करवाकर अपने में समायोजित किया और उन साधनों पर उनका एकाधिकार सुरक्षित किया। जाति व्यवस्था ने वंशानुगत व्यवसायों के ज्ञान एवं कलाओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया है। इस प्रकार इस व्यवस्था ने संस्कृति को बचाने एवं उत्पादकता को बढ़ाने में सहायता की है। साथ ही इसने अन्य जातियों में अंतर्निर्भरता को बढ़ाया है जो कि विभिन्न व्यवसायों में हैं और एक ही गांव एवं गांवों के समूह में रहते हैं । जजमानी संबंधों द्वारा इस व्यवस्था को सुगम बनाया गया है। जाति व्यवस्था के द्वारा कर्म एवं धर्म की अवधारणा को बनाए रखा जाता है और पारंपरिक सामाजिक-धार्मिक नियंत्रण द्वारा मज़बूत किया जाता है। धार्मिक विधियों एवं अनुष्ठानों के प्रयोग ने एक जाति के सदस्यों तथा दूसरी जातियों के सदस्यों के बीच में सहयोग को बढ़ाया है। दूसरी तरफ इसने उच्च जातियों जैसे ब्राह्मणों की उच्च स्थिति को मज़बूत बनाया है।

नि:संदेह परंपरागत कार्य, जो विभिन्न जातियों द्वारा किए जाते थे, उनका ह्रास हुआ है। आजकल जाति राजनीतिक संगठन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। राजनीतिक संगठन एक बहुत बड़ी ग्रामीण जनसंख्या को चुनावी प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर देता है जो कि भारतीय प्रजातंत्र को बनाए रखता है।

जाति व्यवस्था के अकार्य

जाति व्यवस्था देश की एकता में बाधा उत्पन्न करती है। यह सामाजिक निषेधों एवं पवित्रता और अपवित्रता की अवधारणा से राष्ट्रीय जागृति का विरोध करती है। अस्पृश्यता समाज का कैंसर है।

जाति व्यवस्था क्षैतिजीय एवं उर्ध्वगामी गतिशीलता को बाधित करती है। इस प्रकार यह व्यवस्था एक व्यक्ति को उसकी क्षमता एवं इच्छा के विरुद्ध परंपरागत व्यवसाय करने के लिए बाध्य करती हैं। यह औद्योगिक विकास के लिए एक बड़ी बाधा है। जाति व्यवस्था मानव के व्यक्तित्व के विकास में भी बाधा डालती है। इसने सार्वजनिक क्षेत्रों में प्राय: महिलाओं की प्रस्थिति में भी कोई वृद्धि नहीं की है।

समकालीन भारत में जाति

समकालीन भारत में एक जाति अथवा उपजाति का सदस्य होने का कोई खास अर्थ नहीं होता है। जाति व्यवस्था कमज़ोर हो गई है और अपनी पुरानी शक्ति

की तरह कार्य नहीं कर सकती। फिर भी विवाह के क्षेत्र में इसका महत्त्व बना हुआ है। समकालीन भारत में अंत:विवाह अभी भी विवाह का एक प्रधान रूप है परंतु अंतर जातीय विवाह भी स्वीकृत हो रहे हैं यह लक्षण नगरीय क्षेत्रों में विशेष रूप से देखने को मिलता है। भारत के प्रत्येक क्षेत्र में जाति का राजनीतिक प्रयोग होता जा रहा है।

जाति व्यवस्था की संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक व्यवस्था कमज़ोर हो गई है। धार्मिक कर्मकांड, खान-पान एवं शारीरिक मेल-जोल संबंधी निषेध प्राय: समाप्त होते जा रहे हैं। जाति एवं व्यवसाय का संबंध अब बीते दिनों की बात हो गई है। नगरीय क्षेत्रों में जजमानी संबंधों को बाज़ार व्यवस्था ने पूर्ण रूप से प्रतिस्थापित कर लिया है। यहां तक कि गांवों में भी जजमानी संबंध केवल रीति-रिवाजों के स्तर पर कायम हैं।

जाति प्रभुत्व अब कर्मकांडीय प्रस्थिति पर आधारित नहीं है। आज गांवों में सांख्यिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, शिक्षा, राजनीतिक ताना-बाना एवं वर्गों की आंतरिक संबद्धता आदि तत्त्व अब जाति को संप्रभुता देते हैं। जाति व्यवस्था ने परिवर्तित समय के साथ अपना सामंजस्य ठीक से स्थापित कर लिया है। इसने अपनी प्रासंगिकता को और अधिक दृढ़ एवं लचीला बना लिया है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएं भी अपना कार्य कर रही हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएं हैं संस्कृतीकरण, पाश्चात्यीकरण, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण। इन प्रक्रियाओं की चर्चा अन्यत्र की जाएगी ।

वर्ग व्यवस्था

सामाजिक वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रकार है जो सबसे अधिक औद्योगिक समाजों में देखने को मिलता है, लेकिन वर्ग ऐसे समाजों में भी देखने को मिलते हैं जहां औद्योगिक विकास नहीं हुआ है। वर्ग की न तो कोई कानूनी परिभाषा होती है और न ही धर्म द्वारा इसे स्वीकृति प्राप्त है, जैसा कि दूसरे सामाजिक संस्तरणों के साथ देखने को मिलता है। सामाजिक वर्ग सामान्यत: ऐसे लोगों के समूह द्वारा परिभाषित होता है जो धन, आय, व्यवसाय एवं शिक्षा जैसे कारकों के आधार पर स्तरीकृत होते हैं। वर्ग एक-दूसरे से असमानता एवं संस्तरण के आधार पर संबंधित होते हैं। वर्ग स्तरीकरण की वह व्यवस्था है जिसमें एक व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति वह होती है जो उसके द्वारा अर्जित की जाती है। यह व्यक्तियों को अपना विकास करने की स्वतंत्रता देता है एवं इससे व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को परिवर्तित कर सकता है।

वर्ग व्यवस्था व्यक्तियों को अपने व्यवसायों को चुनने के लिए प्रोत्साहित करती है। वर्ग की सदस्यता जाति की सदस्यता की भांति वंशानुगत नहीं होती है। जाति व्यवस्था में सामाजिक प्रस्थिति जन्म से प्राप्त हो जाती है जबकि वर्गों के मध्य की सीमाएं कभी कठोर नहीं रही हैं। विभिन्न वर्गों के मध्य अंतरवर्गीय विवाह पर कोई औपचारिक प्रतिबंध नहीं होता है। सामाजिक गतिशीलता वर्ग व्यवस्था में साधारण बात है लेकिन स्तरीकरण के अन्य प्रकारों में ऐसा नहीं होता। फिर भी वर्ग में कोई व्यक्ति उर्ध्वगामी परिस्थिति बहुत आसानी से अर्जित नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त, एक सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह भी होता है, जो एक विशिष्ट जीवन शैली को अपनाता है। यह जीवन में मिलने वाले अवसरों पर भी निर्भर करता है।

कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी समाज को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया है – पूंजीपति एवं सर्वहारा। मैक्स वैबर ने सामाजिक प्रस्थिति एवं राजनीतिक सत्ता के आधार पर यह सुझाव दिया है कि समाज में दो या दो से अधिक वर्ग भी हो सकते हैं। संचित असमानता

जाति व्यवस्था की विशेषता है जबकि भिन्न-भिन्न प्रकार की असमानता वर्ग व्यवस्था की विशेषता है।

आधुनिक भारत में सामाजिक वर्ग सामाजिक संरचना का महत्त्वपूर्ण अंग है। सामाजिक वर्ग, जैसा कि हम वर्तमान समय के भारत में देखते हैं, इनकी जड़ें अंग्रेज़ी शासन काल में पड़ी थीं। अंग्रेज़ी शासन के पूर्व भारत में लोगों का वर्गीकरण वर्गों में दो कारणों से संभव नहीं हो सका। प्रथम, ग्रामीण समुदाय एक आत्मनिर्भर इकाई थी। वे उतनी ही मात्रा में उत्पादन करते थे जिससे कि उनकी आवश्यकताएं पूरी हो सकें । इसीलिए कठिनता से ही कुछ बचता था। इससे ग्रामीण जनसंख्या में बहुत कम विभिन्नता थी। दूसरा, यदि कभी वर्ग के आयाम पर विभिन्नता होती भी थी तो इसका प्रभाव जाति एवं जजमानी व्यवस्था के द्वारा साफ प्रदर्शित नहीं होता था। यदि वर्ग विभाजन को बृहत्तर रूप से देखा जाए तो यह केवल शासकों एवं शासितों के मध्य था। व्यापारियों, कारीगरों एवं विभिन्न विशिष्ट वर्गों में भी विभिन्न श्रेणी के प्रशासनिक अधिकारी होते थे।

ग्रामीण भारत में वर्ग

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने परंपरागत ग्रामीण अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। कृषि एवं ग्रामीण उद्योग के मध्य जो परस्पर संबंध था वह नष्ट हो गया। भारतीय अर्थव्यवस्था अंग्रेज़ी व्यापारिक हितों के अधीन हो गई। इन सभी स्थितियों ने एक नए प्रकार की वर्ग संरचना को जन्म दिया।

ब्रिटिश शासकों ने भारत में एक नए प्रकार के भू-राजस्व को लागू किया जैसे ज़मींदारी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी एवं महलवाड़ी । ज़मींदारी व्यवस्था ने एक नए ज़मींदार वर्ग को जन्म दिया जो बाद में वंशानुगत आधार पर बड़े-बड़े भूखण्डों के स्वामी बन गए। रैयतवाड़ी व्यवस्था में कृषक को भूमि का स्वामी बनाया गया जो भू-राजस्व सीधे अंग्रेज़ी सरकार को देता था। इसने रैयत ज़मींदार एवं रैयत कृषक वर्ग को जन्म दिया। भू-राजस्व की महलवाड़ी व्यवस्था सरकार ने ज़मींदारों या पारिवारिक मुखियाओं के साथ मिलकर बनाई, ये गांवों या महालों के भू- स्वामी होते थे।

इन सभी व्यवस्थाओं के अंतर्गत ज़मींदार या स्वामी कृषक को राज्य या अंग्रेज़ी सरकार को एक निश्चित मात्रा में धन देना होता था। चाहे फसल अच्छी हो या न हो, वे साधारण कृषक से पैसा वसूल करते थे। इसके फलस्वरूप महाजनों का एक नया वर्ग उभर कर सामने आया। इस प्रकार कृषक वर्ग सरकार, ज़मींदार एवं महाजन के दबावों के नीचे दब कर रह गया। इसके अलावा, भू-स्वामी जो कि राजस्व एकत्रित करते थे कृषि कार्य किए बिना ही इसके अधिकारी थे। अब यहां भू-स्वामियों का एक नया स्वरूप भी सामने आया जो कि भूमि के वास्तविक कृषक थे, परंतु उनकी भूमि की कोई सुरक्षा नहीं थी। तीसरे स्तर का वर्ग जो कृषक श्रमिकों का था, इस व्यवस्था के अंतर्गत सर्वाधिक प्रताड़ित हुआ। इसके अतिरिक्त, ज़मींदार लाभदायक शर्तों पर अपने भू-राजस्व के अधिकारों को दूसरों को सौंप दिया करते थे। इसके उपरांत इन लोगों ने भी अपने अधिकार दूसरे व्यक्तियों को सौंपने शुरू कर दिए। इस प्रकार एक कड़ी की उत्पत्ति हुई। यह कड़ी वास्तविक कृषक एवं राज्य के मध्य मध्यस्थों की थी।

ग्रामीण उद्योग एवं शिल्पकार इस अंग्रेज़ी व्यवस्था से सबसे अधिक प्रभावित हुए। अंग्रेज़ों ने स्वदेशी ग्रामीण उद्योगों एवं कलाओं को नष्ट कर दिया ताकि वे ब्रिटेन से आयातित वस्तुओं के लिए भारत में एक बाज़ार बना सकें। घरेलू वस्तुएं, जो कि गृह तकनीकों द्वारा एवं छोटे स्तर पर बनाई जाती थी, अंग्रेज़ी वस्तुओं से प्रतियोगिता नहीं कर सकीं। उदाहरणस्वरूप ग्रामीण कपड़ा बुनकर इंग्लैंड के मिल में उत्पादित

कपड़ों के आयात के कारण पूर्ण रूप से नष्ट हो गए। गांव के अन्य शिल्पकार भी इंग्लैंड की वस्तुओं के आयात के कारण बुरी तरह से प्रभावित हुए। इस प्रकार बड़ी संख्या में शिल्पी श्रमिक बन गए, जिन्होंने या तो अपने गांवों में कृषि कार्य करना प्रारंभ किया अथवा गांव के बाहर काम ढूंढ़ा।

स्वतंत्रता के बाद कृषि संगठन को बदलने एवं कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए बहुत से भूमि सुधार उपायों को अपनाया गया ताकि समानता को स्थापित किया जा सके। इस दिशा में पहला कदम ज़मींदारी व्यवस्था को समाप्त करना था। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि कृषक को सीधे राज्य से संबंद्ध किया जाए। मध्यस्थों को समाप्त कर दिया गया एवं उन्हें उतनी ही भूमि रखने की अनुमति मिली जितनी वे अपनी व्यक्तिगत कृषि के लिए रख सकें। दूसरा, राज्य के द्वारा भूमि सुधार के कार्यक्रम अपनाए गए ताकि कृषकों को भूमि संबंधी सुरक्षा प्रदान की जा सके एवं भू-राजस्व को भी घटाया गया। तीसरे, वर्तमान एवं भविष्य में प्राप्त भूमि के विषय में अधिकतम सीमा निर्धारित की गई। राज्य ने शेष भूमि का अधिग्रहण कर लिया एवं इसका वितरण छोटे कृषकों एवं कृषक श्रमिकों को किया गया।

कुल मिलाकर भूमि सुधारों का संतोषजनक प्रभाव नहीं रहा । छोटे कृषक बहुत कम सुरक्षा प्राप्त कर सके, जबकि बड़े कृषकों को ये परेशानियां नहीं झेलनी पड़ीं। बड़े ज़मींदारों का प्रभाव गुप्त रूप से जारी रहा । कृषकों का मध्य वर्ग, राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्रों में पुराने ज़मींदारों को हटा कर लाभान्वित हुआ।

कृषि में हरित क्रांति की प्रक्रिया एवं यांत्रिक नवीनता ने प्रगतिशील कृषकों के नए वर्ग को जन्म दिया जो अपने व्यक्तिगत नियंत्रण में कृषि कार्य करवाते हैं। वे अपनी ज़मीन को पट्टे पर नहीं देते हैं। इनके अतिरिक्त, वे गरीब कृषकों की भूमि को पट्टे पर लेते हैं जो कृषि के लिए महंगी वस्तुओं को निवेशित नहीं कर सकते हैं। प्रगतिशील कृषक, जो कि अधिक भूमि के स्वामी हैं तथा छोटे कृषकों के मध्य, जो कि अधिक उत्पादन को प्राप्त करने में असमर्थ हैं, एक खाई उत्पन्न हो गई है क्योंकि वे कम भूमि के मालिक हैं और आधुनिक कृषि के खर्च नहीं उठा पाते हैं। छोटे कृषकों एवं कृषि श्रमिकों का अधिकांश भाग अब भी गरीबी-बेरोज़गारी में फंसा हुआ है। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों के बहुत से भागों में तनाव व्याप्त है।

नगरीय भारत में वर्ग

अंग्रेज़ी शासन काल में नगरीय हस्तकला का शीघ्र पतन हुआ जिसके लिए भारत पूरे विश्व में प्रसिद्ध था। नगरीय शिल्पकारों का शोषण इतना बढ़ गया कि उन्हें मजबूरन अपने वंशानुगत व्यवसायों को छोड़ना पड़ा। भारतीय हस्तकला की वस्तुएं इंग्लैंड की मशीनों द्वारा उत्पादित सस्ती वस्तुओं से प्रतियोगिता नहीं कर सकीं।

आधुनिक उद्योगों का आरंभ भारत में अंग्रेज़ी शासन से हुआ। लेकिन यह विदेशी पूंजी द्वारा नियंत्रित किया जाता था। इस प्रकार पूंजीपतियों के एक नए वर्ग का, जिसमें औद्योगिक, वाणिज्यिक एवं वित्तीय पूंजीपति थे, प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने अपने लाभ को बढ़ाने के लिए श्रमिक वर्ग का शोषण किया।

अंग्रेज़ी शासन काल में प्रधान पूंजीपति अंग्रेज़ी मूल के थे। लेकिन भारतीय पूंजीपतियों ने भी धीरे-धीरे अपनी संचित पूंजी को इन उन्नत होते देसी उद्योगों में निवेशित करना शुरू कर दिया । यह औद्योगिक वर्ग स्वतंत्र भारत में समृद्ध हो रहा है।

नगरीय क्षेत्रों में दो वर्ग और भी थे। इनमें से एक वर्ग छोटे व्यापारियों एवं दुकानदारों का था जो आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से बंधा हुआ था। नई शिक्षा

एवं प्रशासनिक व्यवस्था के फलस्वरूप शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय हुआ। इसमें पेशेवर लोग सम्मिलित थे जैसे वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, तकनीकविद, प्रोफेसर, शिक्षक, क्लर्क एवं अन्य सफेदपोश कार्यकर्त्ता। यह वर्ग स्वतंत्र भारत में पले-बढ़े एवं समृद्ध हुए।

नगरीय श्रमिक वर्ग दो भागों में विभाजित है: (अ) वे श्रमिक जो संगठित क्षेत्र में हैं और (ब) वे जो असंगठित क्षेत्र में हैं। संगठित क्षेत्र की विशेषताएं हैं, बड़ी मात्रा में पूंजी, मज़दूरी, आधुनिक तकनीक, सार्वजनिक एवं निजी स्वामित्व और उत्पादन एवं श्रमिकों के लिए नियंत्रित एवं सुरक्षित बाज़ार, कुशल श्रम इत्यादि। असंगठित क्षेत्र की विशेषताएं हैं, छोटे स्तर की क्रियाएं, निजी या छोटे स्वामित्व, श्रम पर आधारित और पिछड़ी तकनीक, अकुशल या अर्ध कुशल श्रमिक, अनियमित बाज़ार और असुरक्षित श्रम इत्यादि। संगठित क्षेत्र के श्रमिकों की स्थिति की तुलना में असंगठित क्षेत्रों के श्रमिकों की स्थिति बहुत अधिक खराब है।

आधुनिक भारत में वर्ग संरचना की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि सभी वर्ग अब एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एवं एक राज्य शासन के अंतर्गत अभिन्न अंग के रूप में कार्य करते हैं। ग्रामीण शिल्पकारों का पृथक्कीकरण अपेक्षाकृत कम हो गया है। यही बात नगरों के हस्तशिल्पियों के साथ भी है। इसके अतिरिक्त नगरीय भारत का मध्यम वर्ग दिनोंदिन गांवों के समृद्ध लोगों को अपने में सम्मिलित करता जा रहा है। वे अब भारत के अभिजात वर्ग में सम्मिलित होते जा रहे हैं। श्रमिकों के मध्य जाति विभाजन भी अब दुर्बल हो गया है, लेकिन श्रमिकों में वर्ग चेतना मुश्किल से ही देखने को मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति मध्यम वर्ग में स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है जो अब और भी विस्तृत हो रहा है।

जाति एवं वर्ग

जाति एवं वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो मुख्य रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों में एक संस्तरण होता है। जाति एक व्यक्ति के जन्म से निर्धारित होती है, परंतु वर्ग जन्म पर निर्भर नहीं होता। वर्ग व्यवस्था के अंतर्गत एक व्यक्ति अपने धन, आय और समाज में स्थानों के अनुसार स्तरीकरण में उच्च या निम्न स्थान प्राप्त करता है। यह जाति व्यवस्था के अंतर्गत संभव नहीं है।

गतिशीलता के संदर्भ में वर्ग अधिक खुला हुआ है। एक व्यक्ति अपनी वर्ग स्थिति को अपने व्यवसाय, सत्ता या धन के सहारे परिवर्तित कर सकता है। जाति व्यवस्था को सामान्यत: बंद माना जाता है। लेकिन एम. एन. श्रीनिवास का मानना है कि संस्कृतीकरण एवं पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया के द्वारा गतिशीलता हमेशा ही संभव है। आंद्रे बेतेई ने भी जाति व्यवस्था में गतिशीलता की बात की है। वर्ग संरचना में एक व्यक्ति अपनी इच्छा एवं क्षमता के अनुसार अपने व्यवसाय को चुन सकता है। जाति व्यवस्था में व्यवसाय को इतनी आसानी से परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

जनजाति

भारत में जनजातियां एक विशेष सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी समय यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भारतीय संदर्भ में जनजातीय एवं गैर-जनजातीय लोगों में संपर्क एवं अंत:क्रिया स्थापित हो रही है जैसा कि आस्ट्रेलियन एवं उत्तरी अमेरिका की जनजातियों में नहीं है। यह तथ्य अत्यधिक रोचक है कि भारत में इस संपर्क एवं अंत:क्रिया के फलस्वरूप भी जनजातीय पहचान बनी हुई है, जैसा कि और जगहों पर नहीं हुआ है। भारत में इन्हें जनजाति, वनजाति, वनवासी, आदिमजाति एवं आदिवासी इत्यादि नामों से जाना जाता है।

डी. एन. मजुमदार के अनुसार एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का संकुल होती है, जिसका एक नाम होता है, जिसके सदस्य एक ही क्षेत्र में रहते हैं, विवाह और व्यवसाय से संबंधित कुछ निश्चित निषेधों का पालन करते हैं, एक ही भाषा बोलते हैं तथा लेन-देन एवं कर्तव्यों के द्वारा बंधे हुए होते हैं।

भारत में जनजातियों की मुख्य विशेषताएं

1. सामान्य नाम : प्रत्येक जनजाति का अपना एक अलग नाम होता है।
2. सामान्य क्षेत्र : सामान्यतः जनजातियां एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती हैं।
3. सामान्य भाषा : एक जनजाति के सभी सदस्यों की एक ही भाषा या बोली होती है।
4. अंत:विवाह : एक जनजाति के सदस्य अपनी ही जनजाति में विवाह करते हैं।
5. राजनीतिक संगठन : सभी जनजातियों का अपना राजनीतिक संगठन होता है जैसे कि बुजुर्गों की परिषद् आदि ।
6. अर्थव्यवस्था : कुछ जनजातियां आदिकालीन व्यवसायों जैसे शिकार एवं जंगली उत्पादों को एकत्रित करने जैसे कार्य करती हैं। अधिकतर जनजातियां एक या दूसरे प्रकार के कृषि कार्य से जुड़ी होती हैं।
7. धर्म : भारत की अधिकांश जनजातियां परंपरागत रूप से प्रकृति अथवा टोटम की पूजा करती हैं।
8. एक जनजाति के सदस्यों के मध्य सशक्त एकता की भावना पाई जाती है। वे एक सार्वजनिक वंश से तथा एक-दूसरे से रक्त द्वारा जुड़े होते हैं।
9. वे प्राय: मांसाहारी होते हैं और मदिरा भी पीते हैं। यद्यपि उपर्युक्त लिखित सभी विशेषताएं सभी जनजातियों में नहीं होती हैं।

जनजातियों के सामाजिक जीवन में सामान्यतः नातेदारी एक प्रमुख इकाई होती है। नातेदारी जनजातियों में भूमि-आधिपत्य के प्रारूप, आर्थिक उत्पादन एवं उपभोग इत्यादि को निर्धारित करती है।

बहुत कम जनजातीय समूह ऐसे हैं जो अब भी आखेट एवं जंगली उत्पादों को एकत्रित करने पर निर्भर हैं लेकिन उनमें से बहुत से झूम कृषि करते हैं या घुमक्कड़ चरवाहे हैं अथवा शिल्पकार भी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उपरांत आदिवासी इलाकों का एक बड़ा भाग पेड़ लगाने में, खनन और औद्योगिक कार्यों में लगा हुआ है जिससे कई जनजातियां श्रमिक बन गई हैं। परंपरागत रूप से जनजातियां व्यापार एवं वित्तीय विनिमय में शामिल नहीं हैं।

एक आदिवासी समाज मुख्यतः सजातीय होता है जिसमें संस्तरण एवं अधीनता की भावना गौण होती है। आदिवासियों के बीच उत्पादन एवं उपभोग का आधार घरेलू होता है और ये कृषकों की भांति प्राय: वृहद् आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक तंत्र में भाग नहीं लेते हैं।

जनजाति एवं जाति

अवधारणा के रूप में जनजाति एक क्षेत्रीय समूह है जबकि जाति एक सामाजिक समूह होती है। जब एक जनजाति अपनी क्षेत्रीय पहचान खो देती है तब यह एक जाति का रूप ले लेती है। पृथक्करण एवं कम संपर्कों के आधार पर जनजातियां अपने से अधिक विकसित पड़ोसियों की अपेक्षा कम विकसित होती हैं और राष्ट्रीय मुख्यधारा से इनका एकीकरण जाति की अपेक्षा कम होता है।

सामान्यतः हर जनजाति की अपनी एक अलग भाषा होती है परंतु जातियों के साथ ऐसा नहीं होता। एक जनजाति कभी भी अपने सदस्यों के व्यवसाय को

चुनने के विषय पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती है लेकिन एक जाति प्राय: अपने सदस्यों को वंशानुगत व्यवसाय चुनने के लिए प्रेरित करती है।

आदिवासी जातियों के उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे 'भूमिज' ने अपने आप को जाति में परिवर्तित कर लिया है, लेकिन अपने मूल नाम और बहुत-सी रीतियों को बनाए रखा है और अनेक रीतियों को संशोधित भी किया है। मैक्स वैबर के अनुसार एक जनजाति अपने क्षेत्रीय संबंधों को तोड़कर एक जाति बन जाती है।

जाति एवं जनजाति सामूहिक रूप से अपनी पहचान को बनाए रखने पर बल देती हैं। एक जाति या जनजाति अपना नाम बदल सकती है परंतु अपने जीविकोपार्जन की विधियों द्‌वारा वे अपनी सामूहिक पहचान बनाए हुए हैं।

जनजाति खंडात्मक एवं समतावादी व्यवस्था है और वे जाति की तरह एक-दूसरे पर निर्भर नहीं होते हैं। जाति में संस्तरण एवं सावयवी एकता पाई जाती है। जनजाति के सदस्य भूमि एवं अन्य स्रोतों पर प्राय: समान अधिकार रखते हैं। समानता या असमानता एक जनजाति से दूसरी जनजाति में भिन्न होती है।

राजनीतिक रूप से जनजातियां सरल एवं समतावादी होती हैं। वंश, परिवार और नातेदारी इत्यादि एक राजनीतिक संगठन में घुले-मिले होते हैं। आदिवासी विचारधारा में मानव, ब्रह्मांड और अलौकिक वस्तुएं अलग इकाइयां नहीं होती हैं।

समकालीन भारत में जनजातियां

जब तक अंग्रेज़ों ने कुछ कारणों से जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश करना शुरू नहीं किया तब तक जनजातियों ने अपने स्वायत्त अस्तित्व को बनाए रखा था। इसके कई कारणों में जंगलों और खनिजों का दोहन तथा सस्ते श्रमिकों की उपलब्धता भी एक कारण था। एक बार आदिवासियों का बाहरी संसार से संपर्क होने पर उन्होंने बहुत कुछ झेला है। उन्होंने अपनी भूमि खो दी, उन्हें जबरन उस व्यवस्था में शामिल किया गया जिसके बारे में वे अनभिज्ञ थे। आदिवासी बहुत प्रकार के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक शोषण के लक्ष्य बन गए हैं।

ब्रिटिश शासन काल के दौरान आदिवासियों ने अपनी भूमि और जंगली उत्पादनों पर अधिकार के लिए और अपनी संस्कृति तथा आर्थिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए आंदोलन का रास्ता अपनाया। स्वतंत्र भारत में भी नौकरियों को सुरक्षित रखने, प्रशिक्षण की सुविधा के लिए भूमि और दूसरे स्रोतों के अधिकार को बचाए रखने के लिए आंदोलन का रास्ता अपनाया हुआ है, जो कि गैर-जनजातीय लोगों के जनजातीय क्षेत्रों में आने से उत्पन्न हो गया है। इनमें से कई आंदोलनों ने उनकी परंपरागत संस्कृति को पुन: जीवित करने पर बल दिया है, जो बाहरी लोगों के आने से खतरे में पड़ गई प्रतीत होती थी। आदिवासियों ने अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए अंग्रेज़ों से लगातार संघर्ष किया है।

वर्तमान भारत में असंतुलित विकास के बुरे प्रभावों से आदिवासी जनजातियां बुरी तरह प्रभावित हुई हैं। वे अपनी सजातीय पहचान, सांस्कृतिक और आर्थिक हितों को बचाने के लिए राजनीतिक ताकत प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील हैं। आदिवासियों की शिकायतों का निराकरण आधुनिकीकरण तथा विकास के लाभों का समान बंटवारा कर देना एक सकारात्मक हल है। अनुसूचित जनजातियों की संवैधानिक सुविधाएं असंख्य आदिवासियों तक नहीं पहुंच पाती हैं। आदिवासियों के अभिजात वर्ग ने इन पर एकाधिकार

कर लिया है। व्यक्तिवाद तथा असमानता आदिवासी जीवन में पूरी तरह से प्रवेश कर गई हैं। इसका सामना सकारात्मक प्रयासों तथा सार्थक उपायों के द्वारा किया जा सकता है जिससे कि आधुनिकीकरण तथा आर्थिक विकास के लाभ गरीब आदिवासी लोगों तक पहुंच सकें।

शब्दावली

कच्चा खाना - उबला हुआ खाद्य-पदार्थ जैसे विशेषत: चावल इत्यादि।

पक्का खाना - तला हुआ खाद्य-पदार्थ जैसे पूरी, परांठा इत्यादि।

धार्मिक अनुष्ठान - सभी धार्मिक समुदायों में निश्चित अवधि पर दोहराया जाने वाला व्यवहार प्रतिमान।

अभ्यास

1. जाति को परिभाषित कीजिए। जाति व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं बताइए।
2. वर्ण एवं जाति में भेद कीजिए।
3. समकालीन भारत में जाति की क्या भूमिका है ?
4. वर्ग व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं लिखिए ।
5. सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार के रूप में जाति और वर्ग में भिन्नता कीजिए।
6. जनजाति को परिभाषित कीजिए। जनजातियों की क्या विशेषताएं हैं ?
7. जनजाति जाति से किस प्रकार भिन्न है ?

संदर्भ-ग्रंथ

- ड्यूमों, लुई, ***होमो-हाइरारकिकस : द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इंप्लिकेशंस,*** विकास पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1970
- घुर्ये, जी. एस., ***कास्ट एंड क्लास इन इंडिया,*** पापुलर प्रकाशन, मुंबई, 1950
- रिज़ले, हरबर्ट, ***द पीपुल ऑफ इंडिया,*** ओरिएंटल बुक रिप्रिंट कारपोरेशन, नई दिल्ली, 1925/1969
- सिंह, के. एस., ***द पीपुल ऑफ इंडिया,*** नेशनल सीरीज़ (वोल्यूम्स ऑन शिडयूल्ड कास्ट्स एंड शिड्यूल्ड ट्राइब्स), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1993
- सिंह, योगेंद्र, ***सोशल स्ट्रेटिफिकेशन एंड चेंज इन इंडिया,*** मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
- थापर, रोमेश (सं.), ***ट्राइब, कास्ट एंड रिलीजन,*** मैकमिलन, नई दिल्ली, 1977

अध्याय 5

भारत में विवाह, परिवार एवं नातेदारी

भूमिका

विवाह, परिवार एवं नातेदारी समाजशास्त्र में सर्वाधिक अध्ययन की गई संस्थाओं में से है। नातेदारी शब्द को संक्षेप में 'नातेदारी एवं विवाह' के लिए सम्मिलित रूप में प्रयोग किया जाता है। पारिवारिक संबंध एवं रक्त संबंध विवाह द्वारा स्थापित होते हैं। अंग्रेज़ी में इसके लिए 'कौंसेजियन' तथा विवाह संबंधियों के लिए 'एफ़ाइन' शब्द है। इस प्रकार माता-पिता और बच्चों के बीच रक्त संबंध एवं पति-पत्नी के बीच वैवाहिक संबंध होते हैं। विवाह परिवार की आधारशिला है जबकि परिवार सामाजिक जीवन की आधारशिला है। पारिवारिक एवं वैवाहिक संबंधों का संयोग नातेदारी का निर्माण करता है।

भारतीय समाज कई धार्मिक एवं सांस्कृतिक समूहों में बंटा हुआ है, फलस्वरूप विवाह, परिवार एवं नातेदारी के मामलों में काफी विविधताएं हैं। हर धार्मिक समूह की विवाह की दृष्टि से अपनी प्रथाएं एवं प्रणालियां हैं। विवाह एवं नातेदारी क्षेत्रीय संस्कृतियों के पक्ष हैं। अत: अखिल भारतीय स्तर पर इनका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता तथापि भारत में विभिन्न प्रकार की विवाह पद्धतियों से भी प्राय: एक ही प्रकार के आदर्श परिवार का स्वरूप विकसित होता रहा है जिसे सामान्यत: संयुक्त परिवार कहा जाता है। संयुक्त परिवार भारत में विस्तृत नातेदारी संबंधों की एक इकाई रही है।

समाजशास्त्रियों ने सामान्यत: भारतीय जीवन में विवाह एवं नातेदारी का अध्ययन हिंदुओं, मुसलमानों, ईसाइयों एवं जनजातियों के संदर्भ में किया है। परंतु विवाह एवं नातेदारी विषयक नृजातीय विविधताओं के बावजूद समाजशास्त्रियों ने पारिवारिक संगठन में भारतीय स्तर पर बहुत ज्यादा समानता पाई है। अब हम भारत में विवाह, परिवार एवं नातेदारी के बारे में कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

विवाह

विवाह सबसे मौलिक एवं प्राचीन सामाजिक संस्थाओं में से एक है। प्राचीन काल से यह समाज में व्यवस्था एवं अनुशासन बनाए रहा है जिसके बिना समाज मुक्त यौन संबंधों की अराजकता में भटक गया होता। इसका स्वरूप, प्रकृति तथा प्रक्रियाएं अलग-अलग समाजों में एक जैसी नहीं होती। इसके बावजूद इस संस्था के कई सार्वभौमिक सामान्य तत्त्व एवं प्रकार्य हैं। एडवर्ड वैस्टरमार्क के अनुसार ''विवाह एक या अधिक पुरुष का एक या अधिक स्त्री के साथ संबंध है जिसे प्रथा या कानून की मान्यता प्राप्त होती है और जिसमें शामिल लोगों तथा इस संबंध से पैदा हुए बच्चों को कुछ अधिकार तथा कर्तव्य प्राप्त होते हैं।'' सार रूप में विवाह का तात्पर्य नियमों तथा रीतियों के समुच्चय से है जो यह निर्धारित करता है कि किस व्यक्ति का विवाह किससे होगा, विवाह किस विधि से होगा तथा

किस परिस्थिति में होगा। यह भी निर्धारित होता है कि विवाह के पश्चात विवाह संबंध में बंधने वाले व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य क्या होंगे तथा आवश्यकता पड़ने पर संबंध विच्छेद कैसे होगा।

विवाह के द्वारा पति-पत्नी के शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक लक्ष्यों और जरूरतों की पूर्ति होती है। विवाह सामाजिक रूप से स्वीकृत तथा मूल्यों की दृष्टि से वांछनीय संबंध है जिसमें एक पक्ष स्त्री एवं दूसरा पक्ष पुरुष होता है। यह वैवाहिक संबंध में बंधे दोनों पक्षों के यौन, आर्थिक एवं अन्य अधिकारों तथा कर्तव्यों को परिभाषित तथा स्थापित करता है। विवाह पुरुष तथा स्त्री के पति-पत्नी के रूप में यौन अधिकारों को सामाजिक तथा कानूनी मान्यता देता है तथा उनके यौन संबंधों का नियमन भी करता है। वैवाहिक संबंधों से उत्पन्न संतान को समाज में वैध संतान की मान्यता प्राप्त होती है ।

भारत में विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समूहों में विवाह की अलग-अलग पारंपरिक अवधारणाएं, मूल्य, रीति-रिवाज तथा प्रथाएं प्रचलित हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण वैवाहिक रूप निम्नलिखित हैं:

भारत में हिंदू विवाह

हिंदू विवाह की सही व्याख्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से की जा सकती है। हिंदू समुदाय में विवाह की विशिष्ट पहचान है। हिंदू विवाह स्त्री और पुरुष के बीच सामाजिक मान्यता प्राप्त संबंध मात्र नहीं है, बल्कि इसके साथ ही एक दूसरा धार्मिक एवं आध्यात्मिक पक्ष भी है। यह मूलत: एक पवित्र बंधन है एवं एक धार्मिक संस्कार है। इसका उद्देश्य व्यक्तियों के लिए शारीरिक सुख मात्र न होकर उनका आध्यात्मिक विकास भी है। के. एम. कपाड़िया का कहना है कि "हिंदू विवाह एक स्त्री और पुरुष के बीच सामाजिक मान्यता प्राप्त बंधन है जिसका उद्देश्य धर्म, प्रजा, रति तथा कुछ दायित्वों का निर्वहन है।" पी. एच. प्रभु के अनुसार विवाह का प्राथमिक उद्देश्य पारिवारिक जीवन की निरंतरता है। विवाह पति-पत्नी को एक अटूट बंधन में बांधता है जो जन्म-जन्मांतर तक बना रहता है। समाजशास्त्रियों ने भारत में वैवाहिक जीवन की तुलनात्मक स्थिरता को रेखांकित किया है।

हिंदू विवाह के उद्देश्य

समाजशास्त्रियों एवं भारतीय विद्याविज्ञों ने हिंदू विवाह के निम्नलिखित उद्देश्यों की विवेचना की है :

(क) एक संस्कार के रूप में हिंदू विवाह का पहला उद्देश्य कुछ धार्मिक कर्तव्यों को पूर्ण करना है। विवाह के अंतर्गत पति-पत्नी साथ रहने और धार्मिक दायित्वों को पूरा करने के लिए संकल्पबद्ध होते हैं। एक पारंपरिक हिंदू का जीवन चार अवस्थाओं या आश्रमों में विभाजित है। इन्हें क्रमश: ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन), गृहस्थ (पारिवारिक जीवन), वानप्रस्थ (अवकाश प्राप्त जीवन) एवं संन्यास (वीतरागी जीवन) कहते हैं। प्रत्येक आश्रम का प्रारंभ एक संस्कार से होता है जिसके दौरान एक विशेष संकल्प लिया जाता है। संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य के शरीर तथा मानस की शुद्धि है। विवाह संस्कार को गृहस्थ आश्रम का द्वार माना जाता है।

(ख) धर्म, प्रजा (प्रजनन) एवं रति (यौन सुख) जैसे धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए एक हिंदू का विवाहित होना आवश्यक है। हिंदू विवाह का सर्वप्रमुख उद्देश्य वर्ण, जाति एवं कुल के अनुरूप धर्म का पालन करना है।

(ग) विभिन्न संस्कारों में विवाह एक संस्कार है जिसका उद्देश्य शरीर का शुद्धिकरण है। स्त्री

के लिए इसका विशिष्ट महत्त्व है क्योंकि स्त्री के लिए यही सबसे प्रमुख संस्कार है।

(घ) हिंदू गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती है कि वह देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ जैसे यज्ञों को संपन्न करे। इसके लिए वैदिक मंत्रों का जाप करना, अग्नि में घी का हवन करना, विभिन्न जीवों को भोजन देना, अतिथि सत्कार एवं पूर्वजों का पिंडदान या श्राद्ध करना आवश्यक है। यह सभी धार्मिक कृत्य पत्नी के साथ ही संपन्न किए जाते हैं।

(ड.) हिंदुओं में तीन धार्मिक कर्तव्यों या ऋणों की मान्यता है। इन्हें पितृ ऋण, देव ऋण तथा गुरु ऋण कहा जाता है। विवाह पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए आवश्यक माना गया है। पुत्र का जन्म पिता को पितृ ऋण से मुक्त कराता है। गृहस्थ धर्म की पूर्णता और धार्मिक अनुष्ठानों के निर्वहन के लिए पत्नी की भूमिका अनिवार्य है। इसलिए हिंदुओं में पत्नी को अर्धांगिनी एवं पति को अर्धांग कहा जाता है।

हिंदू विवाह के प्रकार

हिंदू धर्म ग्रंथों में विवाह के आठ प्रकारों का वर्णन है, जो निम्नलिखित हैं :

1. **ब्राह्म विवाह** : हिंदुओं में यह सबसे आदर्श, लोकप्रिय और प्रतिष्ठित विवाह का रूप माना जाता है। इस विवाह के अंतर्गत कन्या का पिता अपनी कन्या के लिए विद्वत्ता, सामर्थ्य एवं चरित्र की दृष्टि से सबसे सुयोग्य वर को विवाह के लिए आमंत्रित करता है और उसके साथ पुत्री का कन्यादान करता है। इसे आजकल सामाजिक विवाह या कन्यादान विवाह भी कहा जाता है।
2. **दैव विवाह** : इस विवाह के अंतर्गत कन्या का पिता अपनी सुपुत्री को यज्ञ कराने वाले पुरोहित को देता था। यह प्राचीन काल में एक आदर्श विवाह माना जाता था। आजकल यह अप्रासंगिक हो गया है।
3. **आर्ष विवाह** : यह प्राचीन काल में संन्यासियों तथा ऋषियों में गृहस्थ बनने की इच्छा जागने पर विवाह की स्वीकृत पद्धति थी। ऋषि अपनी पसंद की कन्या के पिता को गाय और बैल का एक जोड़ा भेंट करता था। यदि कन्या के पिता को यह रिश्ता मंजूर होता था तो वह यह भेंट स्वीकार कर लेता था और विवाह हो जाता था, परंतु रिश्ता मंजूर नहीं होने पर यह भेंट सादर लौटा दी जाती थी।
4. **प्राजापत्य विवाह** : यह ब्राह्म विवाह का एक कम विस्तृत, संशोधित रूप था। दोनों में मूल अंतर सपिंड बहिर्विवाह के नियम तक सीमित था। ब्राह्म विवाह का आदर्श पिता की तरफ से सात एवं माता की तरफ से पांच पीढ़ियों तक जुड़े लोगों से विवाह संबंध नहीं रखने का रहा है जबकि प्राजापत्य विवाह पिता की तरफ से पांच एवं माता की तरफ से तीन पीढ़ियों के सपिंडों में ही विवाह निषेध की बात करता है।
5. **आसुर विवाह** : यह विवाह का वह रूप है जिसमें वर विवाह के लिए कन्या के पिता या रिश्तेदारों को कन्या-मूल्य देता है। इस विवाह में कन्या के भाई और वर की बहन का विवाह (अदला-बदली) भी मान्य होता है।
6. **गांधर्व विवाह** : यह आधुनिक प्रेम विवाह का पारंपरिक रूप था। इस विवाह की कुछ विशेष परिस्थितियों एवं विशेष वर्गों में स्वीकृति थी। परंपरा में इसे आदर्श विवाह नहीं माना जाता था, लेकिन समाज इसकी अनुमति देता था।
7. **राक्षस विवाह** : यह विवाह आदिवासियों में लोकप्रिय हरण विवाह को हिंदू विवाह में दी

गई स्वीकृति है। प्राचीन काल में राजाओं और कबीलों ने युद्ध में हारे राजा तथा सरदारों से मैत्री संबंध बनाने के उद्देश्य से उनकी पुत्रियों से विवाह करने की प्रथा चलाई थी। इस विवाह में स्त्री को विजय के प्रतीक के रूप में पत्नी बनाया जाता था। यह स्वीकृत था परंतु आदर्श नहीं माना जाता था।

8. **पैशाच विवाह :** यह विवाह का निकृष्टतम रूप माना गया है। यह धोखे या ज़बरदस्ती से शीलहरण की गई लड़की के अधिकारों की रक्षा के लिए अंतिम विकल्प के रूप में स्वीकारा गया विवाह रूप माना गया है। इस विवाह से उत्पन्न संतान को वैध संतान के सारे अधिकार प्राप्त होते हैं।

जीवन साथी चुनने के नियम

समाज के एक खास समूह की पहचान व पवित्रता कायम रखने के लिए हिंदू स्मृतिकारों ने योग्य साथी चुनने या विवाह करने के लिए विस्तृत नियम तथा रीतियों की व्यवस्था दी है। ये नियम दो सिद्धांतों पर आधारित हैं, यथा अंतर्विवाह के नियम तथा बहिर्विवाह के नियम।

❑ अंतर्विवाह

यह विवाह एक व्यक्ति को जीवन साथी चुनने के लिए अपनी जाति या उपजाति के अंतर्गत ही चुनाव करने की स्वतंत्रता देता है।

1. **जातीय अंतर्विवाह :** इस नियम के अंतर्गत एक व्यक्ति को अपनी जाति के अंतर्गत ही विवाह करने की छूट है। कोई व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता । इस नियम को नहीं मानने वाले व्यक्ति को जाति पंचायत के द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक रूप से कठोर दंड दिया जाता है। दंड के फलस्वरूप व्यक्ति के साथ जातिगत सहयोग और सुरक्षा के हर दरवाज़े बंद कर दिए जाते हैं और उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है।
2. **उपजातीय अंतर्विवाह :** प्रत्येक जाति अनेक उपजातियों में विभक्त होती है जिनमें तुलनात्मक श्रेष्ठता को लेकर अंतर्विरोध होता है। प्रत्येक समूह धीरे-धीरे अंतर्विवाही बन जाता है और अपने सदस्यों को अपनी ही उपजाति से जीवनसाथी के चुनाव के लिए निर्देशित करता है। जैसे ब्राह्मण जाति के अंतर्गत ही सारस्वत, गौड़, कान्यकुब्ज जैसी उपजातियां हैं, जो अंतर्विवाही हैं।

❑ बहिर्विवाह

बहिर्विवाह के नियम के अनुसार हर व्यक्ति को अपने समूह के बाहर विवाह करना होता है। यद्यपि अंतर्विवाह एवं बहिर्विवाह के नियम प्रत्यक्ष रूप में विरोधी दिखाई पड़ते हैं, परंतु ये दोनों नियम एक साथ दो स्तरों पर व्यवहारित होते रहे हैं। हिंदू समाज में बहिर्विवाह के दो रूप पाए जाते हैं :

1. **सगोत्र बहिर्विवाह :** एक गोत्र से जुड़े व्यक्ति सगोत्रीय कहलाते हैं। गोत्र एक वंश समूह (क्लान) या परिवार समूह है, जिसके सदस्य आपस में विवाह करने से प्रतिबंधित होते हैं। यह मान्यता है कि सभी सगोत्रीय एक ही पूर्वज की संतान होते हैं और उन सभी में रक्त संबंध होता है। सगोत्र बहिर्विवाह के नियम को हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 ने अप्रभावी बना दिया है।
2. **सपिंड बहिर्विवाह :** सपिंड लोग एक दूसरे के रक्त संबंधी होते हैं। पिता की ओर से सात एवं माता की ओर से पांच पीढ़ियों तक जुड़े

रक्त संबंधी सपिंड कहलाते हैं। एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव सपिंड समूह के अंतर्गत नहीं कर सकता। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 सामान्यत: सपिंड अंतर्विवाह की इजाज़त नहीं देता परंतु दक्षिण भारत में प्रचलित ममेरे-फुफेरे भाई बहनों को भी प्रथागत रूप में अपवाद स्वरूप स्वीकार करता है। सपिंड बहिर्विवाह का नियम सपिंड रिश्तेदारों में विवाह का निषेध करता है। जीवित व्यक्ति और उसके मरे हुए पुरखों के बीच संबंध को सपिंड संबंध कहते हैं। सपिंड का अर्थ है (1) वे जिनके शरीर का पिंड एक समान है। तथा (2) वे जो एक ही मृत पूर्वज को पिंड दान करते हैं। हिंदू स्मृतिकार सगोत्र की अलग-अलग परिभाषा देते हैं। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 पिता की तरफ से पांच पीढ़ियों एवं माता की तरफ से तीन पीढ़ियों तक सपिंड संबंध से जुड़े व्यक्तियों के बीच वैवाहिक संबंध की स्वीकृति नहीं देता।

अंतर्जातीय विवाह

दो भिन्न जातियों के स्त्री-पुरुष के बीच के वैवाहिक संबंध को अंतर्जातीय विवाह कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब ब्राह्मण जाति की एक स्त्री बुनकर जाति के एक पुरुष से विवाह करती है तो इसे अंतर्जातीय विवाह कहते हैं। प्रथा के अनुसार अंतर्जातीय विवाह को स्वीकृति नहीं है, परंतु अब शहरी इलाकों में इस प्रथा का पूरी तरह से पालन नहीं किया जाता।

विवाह के अन्य नियम

1. अनुलोम : अनुलोम उस विवाह को कहते हैं जिसमें उच्च कुल का पुरुष निम्न कुल की स्त्री से विवाह करता है ।
2. प्रतिलोम : प्रतिलोम उस विवाह को कहते हैं जिसमें उच्च कुल की स्त्री निम्न कुल के पुरुष से विवाह करती है।

विशेष विवाह अधिनियम, 1954, हिंदू विवाह अधिनियम, 1955, हिंदू विवाह कानून (संशोधन) अधिनियम, 1976 इत्यादि के कारण अब अंतर्जातीय विवाह को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई है।

भारत में मुस्लिम विवाह

मुस्लिम विवाह को 'निकाह' कहा जाता है। अवधारणा के स्तर पर मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता या नागरिक समझौता है। भारत में मुस्लिम विवाह भी धार्मिक है जो कि तलाक के द्वारा समाप्त भी किया जा सकता है। भारत में मुस्लिम विवाह अरब देशों तथा अन्य स्थानों की तुलना में ज़्यादा स्थायी पाया गया है। पति-पत्नी के बीच वैवाहिक संबंध का यह तुलनात्मक स्थायी बंधन भारतीय संस्कृति की साझी विरासत है।

भारत में मुस्लिम समुदाय दो प्रमुख संप्रदायों-शिया एवं सुन्नी में विभाजित है। धर्मविधि की दृष्टि से विभिन्न संप्रदायों में अंतर पाया जाता है, परंतु हर मुस्लिम विवाह (निकाह) की पारिभाषिक विशेषताएं एक समान होती हैं। मुस्लिम पर्सनल लॉ के अनुसार मुस्लिम विवाह में चार भागीदारों का होना आवश्यक है:

(1)दूल्हा, (2) दुल्हन, (3) काज़ी तथा (4) गवाह (दो पुरुष या चार स्त्री गवाह), जो सामाजिक धार्मिक कानूनी समझौते (निकाह) के साक्षी होते हैं।

दूल्हा तथा दुल्हन से काज़ी औपचारिक रूप से (एकत्रित स्थानीय समुदाय तथा चुने हुए गवाहों के सामने) पूछता है कि वे इस विवाह के लिए स्वेच्छा से राज़ी हैं या नहीं। यदि वे इस विवाह के लिए 'स्वेच्छा' से राज़ी होने की औपचारिक घोषणा करते हैं तो निकाहनामे पर समझौते की प्रक्रिया पूरी की जाती

है। इस निकाहनामे में महर (या मेहर) की रकम शामिल होती है जिसे विवाह के समय या बाद में दूल्हा दुल्हन को देता है। महर एक प्रकार का स्त्री-धन है।

भारत में विवाह की रस्म हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों समुदायों में दुल्हन के घर पर ही करने की प्रथा है। एक क्षेत्र के हिंदुओं तथा मुसलमानों में कई प्रथाएं समान रूप से मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए केरल के मोपला मुसलमानों में 'कल्याणम्' नामक हिंदू विधि पारंपरिक निकाह का आवश्यक अंग माना जाता है। चचेरे भाई-बहनों में विवाह को मुसलमानों में वरीयता दी जाती है। विधवा पुनर्विवाह मुस्लिम समुदाय में निषिद्ध नहीं है।

मुसलमानों में दो प्रकार के विवाह की अवधारणा है। 'सही' या 'नियमित' तथा 'फसीद' या 'अनियमित'। अनियमित विवाह को नियमित विवाह में बदला जा सकता है। निम्नलिखित स्थितियों में विवाह अनियमित होता है :

1. यदि प्रस्ताव करते समय या स्वीकृति के समय गवाह अनुपस्थित हो,
2. एक पुरुष का पांचवां विवाह
3. एक स्त्री का 'इद्दत' की अवधि में किया गया विवाह। इद्दत की अवधि तलाकशुदा के लिए तीन माह और विधवा के लिए चार माह दस दिन है जिसमें यह सुनिश्चित हो सके कि स्त्री गर्भवती नहीं है।
4. पति और पत्नी के धर्म में अंतर होने पर।

भारत में ईसाई विवाह

भारत में ईसाइयों में विवाह की बहुत-सी रीतियां हिंदुओं की वैवाहिक रीतियों के समान हैं। हिंदुओं के समान ही ईसाइयों में भी यह मान्यता है कि विवाह दैवीय इच्छा द्वारा निर्धारित होता है, परंतु हिंदुओं की तरह ईसाइयों में विवाह एक धार्मिक कर्तव्य नहीं माना जाता। इसका एक धार्मिक आयाम अवश्य है, परंतु प्राथमिक रूप से भारतीय ईसाइयों में विवाह एक सामाजिक संस्था है।

जीवन साथी का चुनाव या तो माता-पिता करते हैं या बच्चे स्वयं करते हैं। जीवन साथी का चुनाव करते समय निकट संबंधियों का निषेध करते हुए युवक एवं युवती की पारिवारिक स्थिति, उनके चरित्र, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि पर ध्यान दिया जाता है। विवाह के अधिकांश नियम हिंदुओं और ईसाइयों में मिलते-जुलते हैं। सगाई की रस्म के बाद वैवाहिक रस्मों में निम्नलिखित चरण होते हैं :

(क) चरित्र प्रमाण-पत्र पेश किया जाता है।

(ख) विवाह की नियत-तिथि से तीन सप्ताह पहले चर्च में आवेदन पत्र प्रस्तावित किया जाता है।

(ग) चर्च के पादरी प्रस्तावित विवाह के बारे में लोगों की राय आमंत्रित करते हैं। अगर किसी को आपत्ति नहीं होती है तो विवाह की तिथि नियत की जाती है।

(घ) चर्च में विवाह की अंगूठी की (दूसरी अंगूठी, सगाई की अंगूठी से भिन्न) अदला-बदली होती है तथा दंपत्ति दो गवाहों की उपस्थिति में ईसा मसीह को साक्षी मानते हुए एक-दूसरे को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार करने की घोषणा करते हैं।

विवाह की रस्म चर्च (गिरिजाघर) में पूरी की जाती है। विवाह के बाद अन्य समुदायों की तरह ईसाइयों में भी सामुदायिक भोज देने का रिवाज है। ईसाई लोग बहुविवाह की इजाज़त नहीं देते। चर्च हिंदू परंपरा की तरह तलाक की स्वीकृति नहीं देता । परंतु ईसाइयों में तलाक होते हैं । भारत के ईसाई चर्च की प्रथाओं के साथ-साथ भारतीय संविधान के नियमों को भी मानते हैं।

चर्च की परंपराओं के अनुसार ईसाई विवाह में न 'महर' की स्वीकृति है न 'दहेज' की, परंतु वर-मूल्य (डाओरी) प्रथा हिंदू प्रभाव से बढ़ रही है। विधवा तथा तलाकशुदा स्त्री का पुनर्विवाह न सिर्फ स्वीकृत है बल्कि इसको प्रोत्साहन दिया जाता है।

भारत में जनजातीय विवाह

भारत में कुछ जनजातियां त्योहारों के अवसर पर विवाह-पूर्व या विवाहेतर यौन संबंधों की स्वीकृति देती हैं, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि जनजातीय समाजों में विवाह के नियम हैं ही नहीं । वस्तुत: अधिकांश जनजातियां एकविवाही हैं और केवल अपवाद स्वरूप ही कुछ त्योहारों के अवसर पर यौन संबंधों में छूट दी जाती है। टोडा, अंडमानी, कादर, चेंचू जैसी सबसे कम विकसित जनजातियों में भी विवाह के सुस्पष्ट नियम देखने को मिलते हैं। अधिकांश जनजातियों में वैवाहिक निष्ठा का आदर्श सख्ती से लागू किया जाता है। जीवन साथी के चुनाव में निषेध, आदर्शात्मक आदेश एवं वरीयता आदि के बारे में जनजातीय समाज में व्यवस्थित एवं विस्तृत रीति-रिवाज होते हैं।

जीवन साथी का चुनाव

जीवन साथी चुनने की रीति के आधार पर भारत की जनजातियां एक दूसरे से भिन्न हैं। भारत की अधिकांश जनजातियां अपने नातेदारों में ही जीवन साथी का चुनाव करना पसंद करती हैं । गोंड तथा खासी ममेरी बहन तथा फुफेरे भाई के बीच विवाह को प्राथमिकता देते हैं। ऐसे विवाहों को कन्या-मूल्य देने से बचने या घर की संपत्ति को घर में ही रखने के रूप में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, गोंड लोग इसे दूध लौटाना कहते हैं जिसका अर्थ है कि एक आदमी अपनी पत्नी के लिए जो कन्या-मूल्य देता है वह वापस प्राप्त कर लेता है जब उसकी बेटी का विवाह उसकी मां के भाई के बेटे (मामा) से होता है। ममेरी बहन और फुफेरे भाई के विवाह के अलावा भारतीय जनजातियों में दो अन्य पसंदीदा विवाह रूप निम्नलिखित हैं :

(क) **देवर विवाह** – विवाह के रूप में एक स्त्री अपने मृत पति के छोटे भाई से विवाह कर सकती है।

(ख) **साली विवाह** – इसके भी दो रूप हैं – पहला, पत्नी की मृत्यु के बाद पति उसकी छोटी बहन के साथ विवाह कर सकता है। दूसरा, पत्नी की छोटी बहन अपने आप उसकी पत्नी बन जाती है।

विवाह के प्रकार

1. एकविवाह : यह विवाह का आदर्श रूप है। एक स्त्री के साथ एक पुरुष के विवाह को एकविवाह कहते हैं। पति-पत्नी के जीवित रहते हुए कोई भी दूसरा विवाह नहीं कर सकता। भारत की कई जनजातियों में इस विवाह का प्रचलन है। खासकर पूर्वोत्तर भारत की मातृवंशीय जनजातियां जैसे खासी, सिनटैंग तथा गारो में यह विवाह का पसंदीदा रूप है।
2. बहुविवाह : यह विवाह का वह रूप है जिसमें एक स्त्री दो या दो से अधिक पुरुषों से विवाह करती है या एक पुरुष दो या दो से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है। बहुविवाह के दो रूप पाए जाते हैं:

   (1) बहुपत्नी विवाह : इसके अंतर्गत एक पुरुष एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह कर सकता है। यह नागा, बैगा, गोंड तथा टोडा जनजातियों में पाया जाता है।

   (2) बहुपति विवाह : एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह कर सकती है। इसके भी दो रूप पाए जाते हैं :

(क) सगे भाइयों से बहुपति विवाह : यह विवाह का वह रूप है जिसमें एक स्त्री एक ही परिवार के सभी भाइयों से एक साथ विवाह करती है। यह दक्षिण भारत की टोडा एवं जौनसार बाबर की खासा जनजाति में विशेष रूप से पाया जाता है। इस विवाह से उत्पन्न बच्चों के पिता के बारे में निर्णय एक सामाजिक उत्सव के द्वारा किया जाता है।

(ख) असंबद्ध पुरुषों से बहुपति विवाह : इस विवाह के अंतर्गत एक स्त्री भिन्न-भिन्न परिवार के पुरुषों से जो एक-दूसरे से संबद्ध नहीं होते हैं एक ही साथ विवाह करती है। विवाह का यह रूप मूलत: टोडा जनजाति में ही पाया जाता है। विवाह के अंतर्गत जब कोई बच्चा पैदा होता है तो उसके पिता का निर्णय एक विशेष रीति के अनुसार होता है।

जनजातीय समुदाय में जीवन साथी चुनने के तरीके

जनजातीय विवाह यौन सुख, संतान उत्पत्ति तथा आपसी सहयोग के लिए एक सामाजिक समझौता माना जाता है। हिंदू विवाह की तरह यह एक धार्मिक संस्कार नहीं माना जाता। इसमें मुख्यत: जीवन साथी चुनने के आठ तरीके हैं:

1. **परिवीक्षा विवाह :** इस प्रकार के विवाह के अंतर्गत एक युवक एक निश्चित समय तक एक युवती के साथ उसके पिता के घर रहता है। यदि इस परिवीक्षा काल में वे दोनों एक दूसरे के साथ रहना पसंद करने लगते हैं तो उनका विवाह कर दिया जाता है, अन्यथा वे लोग अलग हो जाते हैं और क्षतिपूर्ति के रूप में युवक कन्या के परिवार को कुछ धन देता है। यदि युवती इस परिवीक्षा काल में गर्भवती हो जाती है तो युवक को उस युवती से विवाह करना ही पड़ता है। इस प्रकार का विवाह मणिपुर की कूकी जनजाति में पाया जाता है।
2. **हरण विवाह:** यह विवाह का वह तरीका है जिसमें युवती की इच्छा के बगैर ही युवक उससे ज़बरदस्ती विवाह करता है। कन्या-मूल्य का बहुत ज़्यादा होना इसका मुख्य कारण माना जाता है। हरण विवाह के दो रूप पाए जाते हैं:

(क) **शारीरिक हरण विवाह** : युवक एक ऐसी युक्ति अपनाता है जिसके तहत वह युवती का ज़बरदस्ती हरण करके उससे विवाह करता है। यह नागा, हो, भील, मुरिया गोंड, बदगा, साओरा आदि जनजातियों में पाया जाता है।

(ख) **अनुष्ठानिक हरण विवाह** : युवक एक ऐसी प्रक्रिया अपनाता है जिसमें वह अचानक लड़की के ललाट में सिंदूर भर कर उसे चकित कर देता है। यह संथाल जनजाति में पाया जाता है।

3. **परीक्षा विवाह** : भारत की कुछ जनजातियों में पत्नी प्राप्त करने से पहले सामने उपस्थित की गई बाधाओं का सामना करके अपना सामर्थ्य तथा साहस साबित करना पड़ता है। यह कई जनजातियों में पाया जाता है जिनमें भारत की भील जनजाति भी शामिल है। भीलों में होली उत्सव के दौरान विवाह के इच्छुक युवक एवं युवतियां एक पेड़ या खंभे के चारों ओर लोकनृत्य करते हैं। उस पेड़ या खंभे की चोटी पर नारियल और गुड़ बांधा जाता है। युवतियां पेड़ के चारों ओर वृत्त बनाकर नाचती हैं और युवक युवतियों के वृत्त के चारों ओर वृत्त बनाकर नाचते हैं। हर युवक पेड़ या खंभे के नज़दीक पहुंचने की कोशिश करता है। युवतियां इन युवकों को रोकने की हर संभव कोशिश करती हैं। उदाहरण के लिए

उन्हें डंडे से पीटा जाता है और उनके कपड़े फाड़ दिए जाते हैं। इन अवरोधों के बावजूद अगर कोई युवक पेड़ पर चढ़ कर नारियल तोड़ कर गुड़ खा लेता है तो उसे नाचती हुई युवतियों में से किसी भी एक के साथ विवाह करने का अधिकार होता है।

4. **क्रय विवाह** : जनजातीय विवाह के इस रूप में दूल्हे के माता-पिता कन्या के माता-पिता को नगद या सामान के रूप में कुछ धन देते हैं। इसे कन्या-मूल्य कहा जाता है। एक गारो पुरुष बिना कन्या-मूल्य चुकाए कन्या प्राप्त नहीं कर सकता। कन्या-मूल्य को एक प्रकार का मुआवज़ा माना जाता है जो जनजातीय प्रथा एवं परंपरा के अनुसार कन्या के पिता को वर-पक्ष द्वारा दिया जाता है। इसके अलावा, कन्या-मूल्य एक प्रकार से वर-पक्ष द्वारा विवाह भोज के लिए दिया गया योगदान भी माना जाता है। सामान्यतया कन्या-मूल्य का अधिकांश भाग विवाह भोज पर ही खर्च किया जाता है। यह व्यवस्था नागा, जुआंग एवं मध्य भारत की कुछ जनजातियों में पाई जाती है।

5. **सेवा विवाह** : कुछ जनजातीय परिवारों द्वारा यह प्रथा अपनाई जाती है । इस प्रथा के अनुसार, वर अपने होने वाले ससुर के घर विवाह के पहले एक निश्चित समय तक एक नौकर की तरह सेवा करता है। इस अवधि की समाप्ति के बाद यदि लड़की का पिता उस युवक के काम से संतुष्ट होता है तो उसे अपनी बेटी का हाथ दे देता है। परंतु यदि वह उसके कार्य से असंतुष्ट होता है तो उसे अपने घर से निष्कासित कर देता है। इस अवधि के दौरान वह युवक अपनी होने वाली पत्नी के साथ यौन-संबंध स्थापित नहीं कर सकता। सेवा की अवधि तथा सेवा की रूप-रेखा के बारे में विभिन्न जनजातियों में अलग-अलग प्रथा है। गोंड, बैगा आदि भारतीय जनजातियों में यह पाया जाता है।

6. **विनिमय विवाह** : इस विवाह के अंतर्गत दो परिवारों के बीच उनके पुत्र और पुत्री के बीच विनिमय होता है फलस्वरूप दोनों परिवारों को कन्या-मूल्य नहीं चुकाना पड़ता। भारतीय जनजातियों में विवाह का यह रूप प्रचलित रहा है। मुरिया गोंड, बैगा (बस्तर), कोया एवं सओरा (आंध्र प्रदेश) एवं उराली (केरल) जनजातियों में यह लोकप्रिय है।

7. **पलायन विवाह** : जब एक युवक एवं एक युवती परस्पर प्रेम करते हैं और विवाह करना चाहते हैं, परंतु उनके माता-पिता इसके लिए सहमत नहीं होते । ऐसी स्थिति में दोनों निवास छोड़कर आपसी सहमति से पलायन कर जाते हैं। कुछ समय बाद वे वापस लौट आते हैं और उन्हें पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। झारखंड राज्य की हो जनजाति में इसे 'राजी खुशी' विवाह कहा जाता है।

8. **हठ या अनादर विवाह** : जब कोई युवक किसी स्त्री से शादी का वादा करके उसके साथ आत्मीय संबंध बनाता है परंतु किसी न किसी बहाने विवाह करने में आना-कानी करता है तो वह स्त्री खुद पहल करके उसके घर में घुस जाती है। उसको युवक के माता-पिता द्वारा बहुत प्रताड़ित भी किया जाता है, मारा-पीटा जाता है। यदि कन्या यह सब सह लेती है तो पड़ोसी उस युवक को उस स्त्री से विवाह करने के लिए बाध्य करते हैं। ओरांव जनजाति में इसे 'निबोलोक' एवं हो जनजाति में इसे 'अनादर' विवाह कहा जाता है।

समकालीन भारत में विवाह

आजकल भारत में प्राय: एकविवाह प्रथा ही अपनाई जाती है। प्रत्येक सामाजिक-धार्मिक समुदाय में विवाह की आयु बढ़ रही है। अधिकांश विवाह माता-पिता द्वारा तय किए जाते हैं, परंतु संबंधित लड़के-लड़की की राय भी ली जाने लगी है। शहरी इलाकों में अंतर्जातीय एवं अंतर्सामुदायिक विवाह भी होने लगे हैं। वर-मूल्य (डाओरी) की प्रथा उन समुदायों में भी बढ़ रही है जिनमें इसका प्रचलन नहीं था । उदाहरण के लिए मुसलमानों, ईसाइयों तथा कुछ जनजातीय समूहों में। पारंपरिक 'दहेज' एक स्वैच्छिक दान का रूप था जबकि आधुनिक 'डाओरी' एक प्रकार का वर-मूल्य माना जा सकता है जिसे मोल-भाव के बाद कन्या-पक्ष वर-पक्ष को देता है। वर-मूल्य की प्रथा समुदाय एवं सामुदायिक आदर्शों के लगातार कमजोर होने तथा व्यक्ति एवं परिवार के व्यक्तिगत स्वार्थों के महत्त्वपूर्ण बनने का प्रतीक है। यह प्रचलन बहू तथा उसके सास-ससुर के प्रेम और आत्मीयता के बंधन को गंभीरता से प्रभावित करता है, खासकर तब जब दहेज की मांग बहुत अधिक की जाती है। यह प्रचलन उस कन्या के लिए अंतहीन दुखों का कारण बनता है जिसके माता-पिता वर के घर वालों के लालच को पूरा करने में असमर्थ होते हैं। दहेज निरोधक कानून बनाया गया है। स्त्रियों की आर्थिक आत्म-निर्भरता तथा उनमें स्वाभिमान की भावना एवं भावी वर के ज्ञानोदय से इस प्रथा को हतोत्साहित किया जा सकता है। आज के समय में तलाक तथा अलगाव की दर में वृध्धि हुई है। पत्नियां अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक एवं आग्रही हो रही हैं। फलस्वरूप प्रजातांत्रिक माहौल में पति-पत्नी की भूमिकाएं पुनर्परिभाषित हो रही हैं। आजकल पति के लिए घर के कामों में हाथ बटाना असामान्य नहीं है, खासकर जब पत्नी भी नौकरी या व्यवसाय करती हो। अन्य समाजों की तुलना में भारतीय समाज में विवाह संस्था का स्थायित्व अभी भी कायम है।

परिवार

मानव समाज में परिवार एक बुनियादी तथा सार्वभौमिक इकाई है। यह सामाजिक जीवन की निरंतरता, एकता एवं विकास के लिए आवश्यक प्रकार्य करता है। अधिकांश पारंपरिक समाजों में परिवार सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों एवं संगठनों की इकाई रही है। आधुनिक औद्योगिक समाज में परिवार प्राथमिक रूप से संतानोत्पत्ति, समाजीकरण एवं भावनात्मक संतोष की व्यवस्था से संबंधित प्रकार्य करता है।

समाजशास्त्री दो अर्थों में परिवार की चर्चा करते हैं - (क) एक खास प्रकार के वस्तुगत तथ्य (सामाजिक यथार्थ) के रूप में तथा (ख) एक विश्लेषणात्मक अवधारणा के रूप में। वस्तुगत तथ्य के रूप में अलग-अलग समुदायों तथा अलग-अलग क्षेत्रों में परिवार की संरचना बदलती रहती है। विश्लेषणात्मक अवधारणा के रूप में परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है। यह माता-पिता एवं उनके बच्चों के समूह का प्रतीक है। यदि माता-पिता अपने अवयस्क (आर्थिक एवं भावनात्मक रूप से परतंत्र, सामान्यत: अविवाहित) बच्चों के साथ रहते हैं तो उसे नाभिकीय, एकाकी या प्राथमिक परिवार कहते हैं। यदि माता-पिता अपने वयस्क बच्चों और उनके जीवन-साथियों के साथ रहते हैं तो उसे संयुक्त परिवार कहते हैं। एक विश्लेषणात्मक अवधारणा के रूप में परिवार प्राथमिक रूप से सभी मानव समुदायों में वैध यौन-संबंध तथा स्वीकृत तरीके से संतानोत्पत्ति से संबंधित होता है। आधुनिक औद्योगिक तथा नगरीय समाजों में परिवार नातेदारी-समूह के निर्माण का प्रमुख सिद्धांत तय करता है परंतु पारंपरिक

समाजों में परिवार नातेदारी संगठन के सिद्धांतों एवं रक्त या उत्पत्ति (फिलिएशन) के संबंधों द्वारा अनुशासित होता है।

वैवाहिक संबंध को केंद्र में रखकर बनाए गए समूह में दंपत्ति और उनके ऊपर निर्भर बच्चों की सदस्यता होती है। इसे नाभिकीय या दंपत्ति परिवार कहा जाता है। इस प्राथमिक परिवार के संगठन का आधार दांपत्य संबंध होता है, जबकि संयुक्त परिवार के संगठन का आधार प्राथमिक रूप से परिवार में संबंधों के आपसी विश्वास पर निर्भर करता है।

समाजशास्त्री पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परिवारों की भी चर्चा करते हैं। एक पितृवंशीय परिवार 'पिता' और उसके बच्चों से मिलकर बनता है तथा बच्चे पिता के नाम से जाने जाते हैं। विवाह के बाद बेटी अपने पति के साथ रहने जाती है तथा बेटे की पत्नी सास-ससुर और पति के साथ रहने आती है। पारिवारिक संपत्ति का हस्तांतरण पिता से पुत्रों के हाथ में होता है। दूसरी ओर, मातृवंशीय परिवार की संरचना 'मां' और उसके बच्चों से मिलकर होती है और बच्चे अपनी मां के नाम से जाने जाते हैं। विवाह के बाद पति या तो अपनी पत्नी और उसके परिवार के साथ रहने जाता है या कुछ समाजों में अपनी बहन के साथ रहता है। पारिवारिक संपत्ति का हस्तांतरण मां से बेटी के हाथ में होता है पर सामान्यत: यह मामा की देख-रेख (प्रबंध) में होता है। प्रबंधन का अधिकार मामा से भांजे को हस्तांतरित होता है। पितृवंशीय परिवार नाभिकीय या संयुक्त दोनों में से कोई भी हो सकता है परंतु मातृवंशीय परिवार अधिकांशत: संयुक्त होता है।

भारत में परिवार

आई.पी. देसाई के अनुसार नाभिकीय परिवार के रूप में परिवार की अवधारणा अब भी भारतीय अवधारणा नहीं है। एक आम भारतीय के लिए परिवार का मतलब वही है जो अंग्रेज़ी भाषा में संयुक्त परिवार का होता है। ए.एम. शाह जैसे समाजशास्त्रियों ने संयुक्त परिवार एवं एक निवास स्थान या घर के रूप में संयुक्त परिवार की अवधारणा में अंतर स्पष्ट किया है। पारंपरिक भारत में एकाकी घरों का अस्तित्व तो रहा है परंतु एकाकी परिवार का कभी भी एक सांस्कृतिक मूल्य नहीं रहा। अधिकांश भारतीयों के लिए संयुक्त परिवार ही पारिवारिक जीवन का आदर्श प्रतिमान रहा है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में समकालीन समाजशास्त्रियों ने यह पाया है कि एकाकी परिवार या घर संयुक्त परिवार के चक्रीय विकास की एक अवस्था है। यह सब पुरानी पीढ़ी की मृत्यु एवं नई पीढ़ी के जन्म की स्वाभाविक (प्राकृतिक) प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। यह चक्र करीब-करीब 30 वर्षों में पूरा हो जाता है एवं उसके बाद एक नया चक्र शुरू होता है।

इरावती कर्वे ने भारत में संयुक्त परिवार की परिभाषा देते हुए कहा है कि संयुक्त परिवार लोगों का ऐसा समूह है जो एक छत के नीचे रहते हैं, एक रसोई का बना हुआ खाना खाते हैं, एक सामूहिक संपत्ति के भागीदार होते हैं, पारिवारिक पूजा में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं तथा एक-दूसरे से एक विशेष प्रकार के नातेदारी संबंध से जुड़े होते हैं।

दूसरी ओर, आई.पी. देसाई का कहना है कि संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त निवास स्थान या संयुक्त रसोई का होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनके अंत:पारिवारिक संबंध। देसाई ने भारत में पारिवारिक जीवन के पांच प्रकारों की चर्चा की है:

(क) एकाकी परिवार- सबसे छोटा परिवार जिसमें पति, पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे रहते हैं।

(ख) प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार- जब रक्त संबंधों वाले दो परिवार अलग-अलग रहते हैं, परंतु

एक संयुक्त अधिकारी (कर्त्ता) के तहत प्रकार्य करते हैं तो इसे प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार कहा जाता है।

(ग) प्रकार्यात्मक एवं वास्तविक संयुक्त परिवार– जब एक प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार संपत्ति की दृष्टि से भी संयुक्त होता है तो इसे प्रकार्यात्मक एवं वास्तविक संयुक्त परिवार कहा जाता है।

(घ) सीमांत संयुक्त परिवार– जब दो पीढ़ियों के पारिवारिक सदस्य प्रकार्यात्मक एवं वास्तविक रूप से साथ रहते हैं तो इसे सीमांत संयुक्त परिवार कहा जाता है।

(ङ) पारंपरिक संयुक्त परिवार– जब तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के लोग सम्मिलित रूप से एक निवास स्थान में रहते हैं, सामूहिक रूप से संपत्ति के स्वामी होते हैं एवं पारिवारिक अनुष्ठानों में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं तो इसे पारंपरिक संयुक्त परिवार कहते हैं।

भारतवर्ष में संयुक्त और नाभिकीय घर-बार तथा संयुक्त परिवार के सांस्कृतिक प्रतिमान साथ-साथ स्थित रहे हैं अब घर-बार की संरचना तथा संयुक्तता की भावना की मात्रा में परिवर्तन आ रहा है।

संयुक्त परिवार की संरचनात्मक विशेषताएं

1. **सामान्य निवास स्थान एवं रसोई** : सभी सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं। विभिन्न भाइयों एवं उनके परिवार वालों के उपयोग के लिए संपूर्ण निवास स्थान कई छोटे कमरों में बंटा हुआ होता है। साथ रहने से परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच सामूहिक भावना विकसित होती है। पूरे घर के लिए एक ही रसोई घर होता है। प्रायः कर्त्ता की पत्नी या बुज़ुर्ग महिला रसोई घर की व्यवस्थापिका होती है।
2. **बड़ा आकार** : इसमें कई लोग साथ रहते हैं। इसमें तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के लोग एक साथ रह सकते हैं, जिसमें दादा-दादी, पोता-पोती, चाचा, ताऊ, चचेरे भाई-बहन इत्यादि एक साथ रहते हैं।
3. **सामूहिक संपत्ति** : परिवार की चल व अचल संपत्ति में सभी सदस्यों का अधिकार होता है। सभी लोग अपनी क्षमता के अनुसार काम करते हैं तथा पारिवारिक आमदनी को एक सामूहिक कोष में जमा किया जाता है। संयुक्त परिवार का धन तथा वस्तुएं सामूहिक रूप से अर्जित तथा खर्च की जाती हैं। परिवार का मुखिया जिसे कर्त्ता कहा जाता है इसका व्यवस्थापक बना रहता है। परिवार का प्रत्येक पुरुष सदस्य परिवार की पारिवारिक संपत्ति का कानूनी सह-स्वामी होता है।

संयुक्त परिवार की प्रकार्यात्मक विशेषताएं

1. **सामूहिक धार्मिक विधियां तथा उत्सव** : हर संयुक्त परिवार के अपने रीति-रिवाज तथा धार्मिक विधियां होती हैं, जिनका निर्धारण जाति मूल्यों तथा धार्मिक कर्तव्यों के आधार पर किया जाता है। सामूहिक पूजा-पद्धति का हस्तांतरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता है। इससे परिवार के अंदर एकता एवं आत्मीयता बढ़ती है। जिस सामान्य देवता का पूजन किया जाता है उसे 'कुल देवता' कहा जाता है।
2. **कर्त्ता की भूमिका** : घर में निर्णय लेने तथा शांति एवं अनुशासन कायम रखने की जिम्मेदारी या अधिकार मूलतः 'कर्त्ता' का होता है। आर्थिक उपार्जन करने वाले सभी सदस्य अपनी आमदनी कर्त्ता के पास जमा करते हैं एवं घर की संपूर्ण संपत्ति पर भी उसी का नियंत्रण

होता है। पारिवारिक उत्सव एवं धर्मानुष्ठान भी उसी के मार्गदर्शन एवं अभिभावकत्व में संपन्न होते हैं। घरेलू झगड़ों का भी वही निवारण करता है। संक्षेप में, कर्ता परिवार का न्यासी होता है और उसे निर्विवाद अधिकार प्राप्त होते हैं।

3. **आपसी कर्तव्य** : संयुक्त परिवार के सदस्य एक-दूसरे के प्रति आपसी कर्तव्य से बंधे होते हैं। कोई एक-दूसरे के हितों के खिलाफ काम नहीं करता। सभी सदस्य एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा आपसी समझ, प्रेम, उभयनिष्ठ संबंध एवं सहयोगात्मक भाव से जुड़े होते हैं। ये बंधन तथा संबंध परिवार को कायम रखने वाली शक्तियां हैं। संपूर्ण परिवार के हित के संदर्भ में व्यक्ति के हितों को गौण माना जाता है।

4. **समाजवादी व्यवस्था** : यह समाजवादी मूल्यों पर आधारित प्रकार्यात्मक इकाई है। हर सदस्य परिवार की भलाई के लिए काम करता है। परिवार के सभी सदस्यों के बीच अधिकारों एवं सुविधाओं का समान बंटवारा होता है। हर सदस्य अपनी क्षमता के अनुसार अपना योगदान करता है एवं अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवार से प्राप्त करता है।

संयुक्त परिवार के प्रकार्य

भारतीय संयुक्त परिवार व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की रीढ़ समझी जाती है। सामाजिक संगठन की एक व्यवस्था के रूप में यह कई शताब्दियों से आज तक कायम रही है। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि यह प्राचीन संस्था समाज की दृष्टि से लाभदायक प्रकार्य करती रही है। संयुक्त परिवार के लाभदायक प्रकार्यों में से कुछ की चर्चा यहां की जा रही है।

पुनरुत्पादन : परिवार सामान्यतः जैविक पुनरुत्पादन का विधिसम्मत स्थान है। मानवीय उत्पादकता एवं पुनरुत्पादकता काफी हद तक परिवार के द्वारा निर्धारित होती है। बच्चों के लालन-पालन की ज़िम्मेदारी विस्तृत नातेदारी समूह द्वारा मिल-बांट कर निभाई जाती है। परिणामस्वरूप, ज़्यादा बच्चे समूह के लिए लाभदायक माने जाते हैं जो अपने माता-पिता के बुढ़ापे का सहारा बनते हैं।

समाजीकरण : पुनरुत्पादन में अपनी भूमिका निभाने की तरह ही, परिवार समाजीकरण का प्रथम एवं प्राथमिक माध्यम है। छोटे बच्चों को सतत अनुशासन एवं मार्गदर्शन में रखा जाता है। परिवार अपने सदस्यों को सहिष्णुता के गुण, सहयोग, बलिदान, सहानुभूति जैसे मूल्य सिखाता है। यह बच्चों को अपने से बड़ों की सेवा करना सिखाता है। यह अपने सदस्यों को वयस्क, उत्तरदायी, संपूर्ण सामाजिक मनुष्य के रूप में विकसित होने में मदद करता है। वयस्क बनने की प्रक्रिया में यह अपने सदस्यों को पारंपरिक मूल्यों के आधार पर स्त्री और पुरुष के रूप में अपने अधिकार और कर्तव्य सीखने पर ज़ोर देता है। परिवार अपने बच्चों की शिक्षा, नौकरी एवं विवाह के बारे में काफी सजग रहता है तथा यह युवा पीढ़ी के सामाजिक नियोजन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

सामाजिक नियंत्रण का साधन : संयुक्त परिवार एक स्वयं शासित प्रशासनिक इकाई है जो कर्ता के मार्गदर्शन में कार्य करती है। कर्ता को असंदिग्ध अधिकार प्राप्त होते हैं, जिसे केवल अधिकार के दुरुपयोग की स्थिति में चुनौती दी जा सकती है। यह सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन के रूप में काम करता है। परिवार के वरिष्ठ सदस्य छोटे बच्चों की अनुशासनहीनता एवं असामाजिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं। परिवार यह सुनिश्चित करता है कि इसके सदस्य सदाचारी एवं अनुशासित व्यक्ति बनें।

कल्याण : परिवार का एक प्रमुख कर्तव्य छोटे बच्चों, अपाहिजों, बीमार लोगों एवं बुजुर्गों की सेवा एवं उपचार करना है। यह शिशुओं, गर्भवती महिलाओं एवं दूध पिलाने वाली माताओं की विशेष देख-भाल करता है। संयुक्त परिवार व्यवस्था अपने सदस्यों को खासकर, संकट के समय में, अधिकतम सुरक्षा देने में समर्थ होता है। इस तरह, संयुक्त परिवार अपने सदस्यों के लिए एक सहायक, मित्रतापूर्ण सामाजिक वातावरण का निर्माण करता है। यह मनोरंजन तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने का अवसर भी प्रदान करता है।

उत्पादन, वितरण तथा उपभोग : उत्पादन की पारिवारिक व्यवस्था का आधार स्त्री-पुरुष के बीच लैंगिक श्रम-विभाजन होता है। यह श्रम-विभाजन घर के अंदर और बाहर दोनों जगह महत्त्वपूर्ण है। स्त्रियां सामान्यत: घरेलू एवं उत्पादन से संबंधित क्रिया-कलापों में योगदान करती है। पुरुष लोग सार्वजनिक क्षेत्र (घर के बाहर) में कार्य करते हैं और घर की आमदनी में योगदान करते हैं। परंतु हाल के वर्षों में इस लैंगिक श्रम-विभाजन की आलोचना हो रही है।

संयुक्त परिवार उपभोग की एक संपूर्ण इकाई है। इसका अर्थ है कि परिवार को काफी बड़ी मात्रा में सस्ती कीमत पर उपभोक्ता वस्तुओं को खरीद कर आर्थिक रूप से समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है। गैर-उपभोक्ता वस्तुओं का सदुपयोग परिवार के सभी सदस्य आपस में मिल-बांट कर करते हैं। परिवार के सभी सदस्य अपनी आमदनी एक साथ मिलाकर संपूर्ण परिवार की आवश्यकता के अनुसार खर्च करते हैं।

संयुक्त परिवार के अकार्य

अनेक प्रकार्यों के साथ-साथ, संयुक्त परिवार की संरचना में कई अकार्य भी देखने में आते हैं। समाजशास्त्रियों द्वारा इन अकार्यों की चर्चा की गई हैं :

संयुक्त परिवार में छोटी-छोटी बातों पर संघर्ष हो जाते हैं। सदस्यों के बीच में आपसी तालमेल, समायोजन तथा सात्मीकरण का सामान्यत: अभाव होता है। मतभेद एवं कटुता से आंतरिक अंतर्विरोध पैदा होता है जो संयुक्त परिवार के विघटन के लिए रास्ता तैयार करता है।

संयुक्त परिवार स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में बाधा माना गया है। चूंकि परिवार का मुखिया सारे महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया करता है, फलस्वरूप हर व्यक्ति की पसंद या नापसंद का खयाल रखना संयुक्त परिवार में संभव नहीं हो पाता। स्वतंत्र रचनात्मक संभावना का पूरी तरह विकास एवं उपयोग नहीं हो पाता।

कभी-कभी नव विवाहित जोड़ी के बीच आत्मीयता का विकास नहीं हो पाता, फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक असंतोष एवं नासमझी का माहौल रहता है। संयुक्त परिवार व्यवस्था के अंतर्गत विवाहित युवा स्त्रियों का अधिकांश समय परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकता पूर्ति में बीत जाता है। इसके कारण उन्हें समय का आनंद उठाने एवं उचित तरीके से अपने स्वास्थ्य पर ध्यान देने के लिए भी समय या अवसर नहीं मिल पाता।

संयुक्त परिवार में बुजुर्ग तथा युवा दोनों प्रकार के सदस्य पाए जाते हैं, फलस्वरूप पीढ़ियों के संघर्ष कई प्रकार से उभरते रहते हैं। बुजुर्ग लोग कठोरता से पारंपरिक मूल्यों एवं विश्वासों का पालन करते हैं। वे नए सांस्कृतिक चलन को स्वीकार नहीं पाते। युवा व्यक्तिवाद के पक्षधर होने लगे हैं एवं पारंपरिक मूल्यों को अधिनायकवादी, पक्षपातपूर्ण एवं अन्यायी मानकर इनका विरोध करने लगे हैं। इसके कारण कई बार परिवार में समस्याएं पैदा हो जाती हैं और घर की शांति भंग हो जाती है। विभिन्न पीढ़ियों की सामाजिक अभिरुचियों में अंतर होता है।

संयुक्त परिवार में परिवर्तन

संयुक्त परिवार में इन परिवर्तनों की चर्चा समाजशास्त्रियों द्वारा अक्सर की जाती है :

❑ **संरचनात्मक परिवर्तन :** जिन तथ्यों एवं मूल्यों ने संयुक्त परिवार की व्यवस्था का पोषण किया, स्थायित्व दिया एवं कायम रखा वे हैं : (1) पुत्रों में पिता के प्रति समर्पण की भावना, (2) आर्थिक रूप से समर्थ सदस्यों का संयुक्त परिवार के उन सदस्यों की मदद के लिए तत्पर रहना जो खुद अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हैं, (3) बुज़ुर्ग स्त्री-पुरुष के लिए राज्य द्वारा नियोजित सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था का अभाव होना तथा (4) ज़मीन, पूंजी एवं श्रम के चतुर्दिक लाभ की दृष्टि से संगठन एवं उपयोग के लिए संयुक्त परिवार के द्वारा दिया गया भौतिक प्रोत्साहन।

अब संयुक्त परिवारों में निम्नलिखित कारणों से विघटन हो रहा है :

(1) भाइयों की आमदनी में अंतर जो घर में कलह को जन्म देता है।
(2) बेटों और उनकी पत्नियों में पारिवारिक ज़िम्मेदारी निभाने की भावना में कमी।
(3) समाज के पाश्चात्य वर्ग एवं युवकों में व्यक्तिवाद का विकास।
(4) अर्थव्यवस्था में सेवाक्षेत्र का बढ़ता महत्त्व तथा बाहरी आमदनी के बढ़ते अवसरों के कारण एकाकी परिवारों को वरीयता।

❑ **प्रकार्यात्मक परिवर्तन :** इसकी तीन स्तरों पर पड़ताल की जा सकती है :

1. **पति-पत्नी के संबंध :** पारंपरिक परिवारों में निर्णय लेने के काम में पत्नी, अपने पति के सहायक की भूमिका निभाती थी। परंतु समकालीन परिवारों में पत्नी, अपने पति के बराबर कभी-कभी ज़्यादा सक्रिय भूमिका निभाती है। फलस्वरूप घर के कार्य एवं बाहर के कार्य की दृष्टि से पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ सहयोग एवं समायोजन करने लगे हैं।
2. **माता-पिता एवं बच्चों का संबंध :** पारंपरिक परिवारों में शक्ति एवं अधिकार पूरी तरह से कर्त्ता के हाथ में होता था और उसे शिक्षा, व्यवसाय एवं बच्चों के विवाह के निर्णय लेने के असीमित अधिकार प्राप्त होते थे। समकालीन परिवारों में अब अधिकांशतः माता-पिता एवं उनके बच्चे सामूहिक रूप से मिल-जुल कर निर्णय करने लगे हैं।
3. **सास-ससुर के साथ बहू का संबंध :** इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। शिक्षित बहू अपने ससुर के सामने पर्दा नहीं रखती। सास-बहू के संबंध में भी पहले की तुलना में अब कम कटुता है। सास अब शक्तिशाली पद नहीं रहा, परंतु वह ससुर की तरह एक सम्माननीय पद अब भी है।

समकालीन भारत में परिवार

भारत के अधिकांश सामाजिक-धार्मिक एवं सांस्कृतिक समूहों में संयुक्त परिवार एक सांस्कृतिक मूल्य रहा है, परंतु व्यावहारिक स्तर पर एकाकी परिवारों का प्राचीन काल से ही अस्तित्व रहा है। आज नगरीकरण, स्थानांतरण, औद्योगीकरण, पश्चिमी शिक्षा के प्रसार एवं पश्चिमीकरण की प्रक्रिया जैसे कारकों ने भारत में एक नए प्रकार के घर एवं परिवार का विकास किया है। इन कारकों ने संरचनात्मक दृष्टि से संयुक्त परिवार को समाप्त तो नहीं किया है, परंतु इनके कारण पहले से ही कायम एकाकी घरों एवं परिवारों के व्यावहारिक चलन को निःसंदेह बल मिला है। इसके साथ-साथ, एक हद तक एकाकी परिवार के

रूप में एक वैकल्पिक सांस्कृतिक मूल्य का भी प्रसार हुआ है। आधुनिक संचार के साधनों ने भी एकाकी परिवार के नए सांस्कृतिक मूल्य के प्रसार में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

दूसरी ओर, जनांकिकीय कारकों ने, संयुक्त परिवार की संस्था को मज़बूत किया है। जनगणना के आंकड़े एवं नृजातीय अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि भारतीय घरों के औसत आकार में आई बढ़ोतरी बुजुर्ग सदस्यों की बढ़ी संख्या के कारण है न कि बच्चों की बढ़ी संख्या के कारण। कई कारणों से, पहले भारत में एक व्यक्ति की औसत आयु इतनी कम हुआ करती थी कि संयुक्त घरों का बनना या लंबे समय तक उनका संयुक्त रहना जनांकिकीय (जनसांख्यिकीय) रूप से संभव नहीं था। चिकित्सा की सुविधाओं के बढ़ने एवं अन्य कारकों के कारण अब एक व्यक्ति की औसत आयु में काफी बढ़ोतरी हुई है फलस्वरूप संयुक्त परिवार का लंबे समय तक बने रहना अब संभव हो गया है।

ए.एम. शाह का कहना है कि सामान्यत: घर का औसत आकार ग्रामीण इलाकों की तुलना में शहरों में छोटा रहा है, 1951 से ही यह शहरी तथा ग्रामीण दोनों इलाकों में बढ़ रहा है। परंतु शहरी समाज के एक वर्ग में खासकर महानगरों में, छोटे आकार के एकाकी परिवार एवं घर-बार एक संस्था के रूप में लोकप्रियता प्राप्त कर रहे हैं। यह मध्यम वर्ग, पेशेवर वर्ग (प्रोफेशनलस) तथा ऊंची जातियों का पश्चिमीकृत वर्ग महानगरों में पाया जाता है। यह भारतीय समाज का आधुनिक एवं तेज़ी से विकसित होने वाला वर्ग है। यह पश्चिमी शैली के व्यक्तिवादी विचारधारा के सबसे अधिक प्रभाव में रहने वाला वर्ग है। इस वर्ग में बेटियों के प्रति उदार दृष्टिकोण विकसित हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप पुत्र का अभाव विशेष चिंता का विषय नहीं होता।

मध्यमवर्ग के लोगों ने छोटे परिवार के मूल्य को स्वीकार कर लिया है। फलस्वरूप, इस वर्ग ने एक या दो संतान के आदर्श को व्यवहार में लाना शुरू कर दिया है। विवाह के बाद बच्चे आवश्यक रूप से अपने माता-पिता के साथ संयुक्त निवास स्थान (घर) में नहीं रहते। इस वर्ग के लोगों में ज़्यादा उम्र में विवाह करने का चलन व्याप्त है एवं विवाह के बाद पुत्र तथा पुत्रवधु का कार्यस्थल माता-पिता के निवास स्थान से सामान्यत: काफी दूर हो सकता है। ये लोग संयुक्त परिवार के आदर्श को मानते हुए भी संयुक्त घरों में लंबे समय तक नहीं रह पाते हैं।

छोटे एकाकी परिवारों में निम्नलिखित विशेषताएं पाई गई हैं :

1. छोटे परिवार सदस्यों को ज़्यादा स्वतंत्रता एवं स्वावलंबन प्रदान करते हैं।
2. ऐसे घरों में संयुक्त परिवार की तुलना में व्यक्ति ज़्यादा उत्तरदायित्व महसूस करते हैं।
3. मध्यमवर्ग के लिए शहरी परिवेश में ऐसे घर आर्थिक रूप से ज़्यादा सुविधाजनक बन गए हैं।
4. समकालीन परिवेश में एकाकी परिवार संकट की स्थिति से निबटने में ज़्यादा अनुकूल पाए गए हैं। बीमा, बैंकिंग तथा चिकित्सालयों जैसी आधुनिक सुविधाओं ने संयुक्त परिवारों द्वारा दी जाने वाली पारंपरिक सुरक्षा एवं सुविधाओं को संपन्न वर्गों के लिए कम आकर्षक बना दिया है।
5. बच्चों के दृष्टिकोण से एकाकी परिवारों के लाभदायक और हानिकारक दोनों आयाम हैं। मनोवैज्ञानिकों एवं समाजवैज्ञानिकों ने बच्चों के विकास में दादा-दादी एवं अन्य वरिष्ठ संबंधियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया है। कभी-कभी एकाकी परिवारों में माता-पिता दोनों बाहर काम करते हैं। फलस्वरूप बच्चे

काफी अकेलापन एवं असुरक्षा महसूस करते हैं। उन्हें नौकरों, घर की देखभाल करने वालों, क्रीड़ा-विद्यालय एवं अन्य औपचारिक माध्यमों पर निर्भर रहना पड़ता है। कई बार इसके कारण उन्हें भावनात्मक दबाव झेलना पड़ता है और उनका व्यक्तित्व भावनात्मक रूप से कमज़ोर हो जाता है। परंतु अधिकांशतः बच्चे इन परिस्थितियों को झेलना सीख जाते हैं और उनमें स्वतंत्रता एवं व्यक्तिवाद की भावना विकसित हो जाती है।

ज़्यादातर भारतीय आज भी संयुक्त परिवारों में रहते हैं तथा संयुक्त परिवार का आदर्श आज भी कायम है। परंतु संयुक्तता का सांस्कृतिक भाव एवं सदस्यों के बीच भावनात्मक जुड़ाव कमज़ोर पड़ने लगा है। परिवार के मुखिया या कर्त्ता का नैतिक अधिकार भी कमज़ोर हो गया है। आजकल, पारिवारिक निर्णय विचार-विनिमय या समझौते की एक प्रक्रिया के तहत होता है। भारतीय संसद ने परिवार की महिला सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए कई विधेयक पास किए हैं। शिक्षा ने भी बच्चों तथा महिलाओं का सबलीकरण किया है। फलस्वरूप, संयुक्त परिवार के मूल्य, आदर्श एवं प्रथाएं तेज़ी से बदल रही हैं। संयुक्त परिवारों को बदलते हुए मूल्यों एवं प्रथाओं के साथ अनुकूलन स्थापित करना पड़ रहा है। इन परिवर्तनों की छाया पिछले दो दशकों के सिनेमा एवं टेलीविजन माध्यमों से देखने को मिल सकती है, क्योंकि सिनेमा तथा टेलीविजन के कार्यक्रमों ने आधुनिक संदर्भ में संयुक्त परिवार तथा घर के बदलते आयामों को अक्सर अपनी विषय-वस्तु बनाया है। कुल मिलाकर, संयुक्त परिवार तथा घर की संस्था में अनुकूलन स्थापित करने की दृष्टि से प्रकार्यात्मक परिवर्तन ज़्यादा हो रहे हैं । भारतीय समाज तथा संस्कृति का लचीलापन परिवार रूपी संस्था में आज भी देखने को मिलता है।

नातेदारी

प्रत्येक समाज नातेदारी संबंधों का ढांचा प्रस्तुत करता है। अपने एकाकी परिवार के बाहर व्यक्ति के द्वितीयक एवं तृतीयक संबंध होते हैं। हर व्यक्ति के प्राथमिक संबंधी तो उसी एकाकी परिवार में पाए जाते हैं जिसका वह सदस्य होता है। नातेदारी संस्कृति का वह हिस्सा है जो जन्म और विवाह के आधार पर बने संबंधों एवं संबंध की अवधारणाओं एवं विचारों से संबंधित होता है। नातेदारी संगठन व्यक्तियों के उस समूह को इंगित करता है जो या तो एक-दूसरे के रक्त संबंधी होते हैं या वैवाहिक संबंधी।

जी. डंकन मिचेल के अनुसार, "जब हम नातेदारी शब्द का इस्तेमाल करते हैं तो हम लोग रक्त-संबंधियों एवं विवाह संबंधियों को संदर्भित कर रहे हैं।" रक्त संबंधियों में सामान्यतः उन्हें शामिल किया जाता है जिनके बीच सामूहिक रूप से तथाकथित रक्त-संबंध पाया जाता है। रक्त संबंधी वह है जिसका या तो उस परिवार में जन्म हुआ है या उसे परिवार द्वारा गोद लिया गया हो। जबकि विवाह संबंधी उसे कहते हैं जिसके साथ संबंध का माध्यम विवाह हो। उदाहरण के लिए पिता-पुत्री संबंध एक रक्त संबंध है जबकि पति-पत्नी संबंध एक विवाह संबंध है।

नातेदारी दो महत्त्वपूर्ण एवं संबंधित उद्देश्यों की पूर्ति करती है- (1) यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक परिस्थिति एवं संपत्ति के हस्तांतरण को संभव बनाती है, तथा (2) कुछ समाजों में यह प्रभावी सामाजिक समूह के निर्माण को कायम रखने में प्रभावी होती है। नातेदारी परिवार एवं विवाह जैसी दो जुड़ी संस्थाओं का प्रतिफल है और यह जन्म, मृत्यु एवं स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंध से जुड़े सामाजिक व्यवहार का नियमन करती है। नातेदारी एक-दूसरे के प्रति अधिकारों तथा कर्तव्यों के बारे में तथा एक-दूसरे की अभिरुचियों एवं अपेक्षाओं के बारे में बताती है।

ज़्यादातर समाजों में जहां नातेदारी संबंध महत्त्वपूर्ण होते हैं, वंशावली तय करने के नियम स्पष्ट होते हैं। वंश कई पीढ़ियों के लोगों को जोड़ता है। वंशावली के आधार पर यह बताया जा सकता है कि किस व्यक्ति की उत्पत्ति किस व्यक्ति से हुई है। वंशावली तय करने के कई तरीके हैं।

एकपक्षीय वंश : माता-पिता में से जब केवल एक पक्ष को ही वंशावली में गिनने की प्रथा हो तो उसे एकपक्षीय वंश कहते हैं। इसके भी दो रूप हैं :

1. पितृवंशीय : इसमें वंश का निर्धारण या गणना केवल पिता या दादा जैसे पुरुष संबंधियों से संबंध स्थापित करके किया जाता है। यह महत्त्वपूर्ण पक्ष है कि पितृवंश में पुत्रों के साथ-साथ पुत्रियों की गिनती भी की जाती है। वंश पिता या दादा के नाम से जाना जाता है।
2. मातृवंशीय : इसमें वंश का निर्धारण मां या नानी जैसे स्त्री संबंधियों के साथ संबंध स्थापित करके किया जाता है। मातृवंश में पुत्रियों के साथ पुत्र की गिनती भी की जाती है। वंश माता या नानी के नाम से जाना जाता है।
3. द्विवंशीय : यह भी एकपक्षीय वंश का ही एक रूप है जिसमें मातृवंशीय एवं पितृवंशीय गुण मिले रहते हैं। वंशावली का निर्धारण पिता या माता के एक ही पक्ष के आधार पर किया जाता है। परंतु अलग-अलग उद्देश्यों के लिए अलग-अलग वंशावली तैयार की जाती है। उदाहरण के लिए, अचल संपत्ति के हस्तांतरण के लिए एक पक्ष (पिता) एवं चल संपत्ति के हस्तांतरण के लिए दूसरे पक्ष (माता) के साथ संबंध स्थापित कर वंशावली तैयार की जाती है।

द्विपक्षीय वंश : यह एकपक्षीय वंश से भिन्न होता है। इसमें एक ही साथ माता और पिता, स्त्री पूर्वज एवं पुरुष पूर्वज दोनों की तरफ से (एक साथ, एक ही उद्देश्य के लिए) वंशावली तैयार की जाती है।

भारत में सामान्यत: पितृवंशीय एवं मातृवंशीय दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं पायी जाती हैं। उत्तर भारत में पितृवंशीय व्यवस्था ज्यादा पाई जाती है। संथाल एवं मुंडा जैसी जनजातियां पितृवंशीय हैं। यह दिलचस्प है कि बहुपति विवाह के रिवाज को मानने वाले टोडा लोग भी पितृवंशीय हैं। जनजातियों में उत्तर-पूर्व के खासी तथा गारो लोग मातृवंशीय व्यवस्था मानते हैं। केरल की नायर जाति मातृवंशीय व्यवस्था का सर्वोत्तम उदाहरण है।

एकपक्षीय वंश समूह को गोत्र या कुल कहा जाता है। गोत्र या वंश नातेदारों का ऐसा समूह है जिसमें सभी पूर्वजों के साथ ज्ञात कड़ियों के आधार पर वंशानुगत संबंध स्थापित किया जाता है। एक कुल कई वंशों के मिलने से बनता है। कुल नातेदारों का ऐसा समूह है जिसके सदस्य सामूहिक रूप से एक साझे पूर्वज से अपने को जोड़ते हैं परंतु वे ज्ञात वंशक्रम के आधार पर उस पूर्वज से संबंध नहीं जोड़ पाते।

एकपक्षीय वंश समूह के सदस्य सामान्यत: धार्मिक विधियों एवं आनुष्ठानिक उत्सवों के अवसर पर साथ-साथ उपस्थित होते हैं। उत्तराधिकार के नियम अधिकांशत: वंशावली के द्वारा नियमित होते हैं। भारत के अधिकांश भाग में अभी हाल तक ज़मीन एवं घर जैसी अचल संपत्ति नज़दीकी पुरुष संबंधी को हस्तांतरित होती थी। हाल के कानूनी विधेयकों ने पिता की संपत्ति में पुत्री को भी अधिकार प्रदान किया है।

नातेदारी : पारिभाषिक शब्दावली

प्रसिद्ध मानवशास्त्री ए.आर. रैडक्लिफ ब्राउन का कहना है कि नातेदारी में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली

अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त एक निश्चित नातेदार के अधिकारों एवं कर्तव्यों के वर्गीकरण की ओर संकेत करती है। उनके पहले एल.एच. मौर्गन ने कहा था कि नातेदारी शब्दावली हमारे सामाजिक संबंधों के संदर्भ तथा मुहावरे प्रदान करती है। मौर्गन ने नातेदारी में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलियों की दो व्यवस्थाओं की चर्चा की है :

(क) वर्गात्मक

(ख) वर्णनात्मक ।

वर्गात्मक व्यवस्था में नातेदारी में प्रयुक्त शब्दावली के अंतर्गत एक ही शब्द के द्वारा भिन्न प्रकार के नातेदारों को वर्गीकृत या संबोधित किया जाता है।

वर्णनात्मक व्यवस्था में नातेदारी से संबद्ध प्रत्येक शब्द केवल एक खास नातेदार एवं एक खास संबंधी के लिए इस्तेमाल किया जाता है। उदाहरण के लिए, मां के भाई को मामा, पिता के भाई को चाचा तथा पिता की बहन के पति को फूफा कहा जाता है। ज़्यादातर समकालीन समाजों में दोनों प्रकार के (वर्गात्मक एवं वर्णनात्मक) शब्दों का उपयोग किया जाता है। एकाकी परिवार के अंदर मां, पिता जी जैसे वर्णनात्मक शब्दों का उपयोग किया जाता है।

उत्तर भारतीय नातेदारी शब्दावली तुलनात्मक रूप से वर्णनात्मक है। यह व्यक्ति के प्राथमिक संबंधों का वर्णन करती है। पितृपक्षीय वंशावली को स्पष्ट करने के लिए चचेरे और फुफेरे तथा मातृवंशीय वंशावली को परिभाषित करने के लिए ममेरे एवं मौसेरे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे भाई के पुत्र को भतीजा एवं बहन के पुत्र को भांजा कहा जाता है। इसके विपरीत, दक्षिण भारतीय नातेदारी शब्दावली में तुलनात्मक रूप से वर्गात्मक शब्दावली पर ज़ोर दिया जाता है। यहां एक ही शब्द 'मामा' के द्वारा माता के भाई, पत्नी के पिता एवं पिता की बहन के पति तीनों का बोध होता है।

विशिष्ट नातेदारी शब्दावली प्रथाएं एवं नातेदारी व्यवहार

समाज में व्यवस्था एवं मर्यादा बनाए रखने के लिए कुछ व्यवहारों को आवश्यक व्यवहार के रूप में सामाजिक मान्यता एवं स्वीकृति प्राप्त होती है। हंसी-मज़ाक का संबंध भी इसी प्रकार का एक मान्यता प्राप्त व्यवहार है। हंसी-मज़ाक के संबंध में दो संबंधियों के बीच एक प्रकार की समानता एवं पारस्परिकता का संबंध होता है। उदाहरण के लिए, एक पुरुष के अपनी पत्नी की छोटी बहन (साली) एवं एक स्त्री के अपने पति के छोटे भाई (देवर) के साथ संबंध को हंसी-मज़ाक का संबंध कहा जाता है। कुछ कृषक जातियों में पति की असामयिक मृत्यु के बाद भाभी का देवर से विवाह उत्तर भारत में देखा गया है।

अन्य प्रकार के हंसी-मज़ाक के संबंध भी महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, कुछ समुदायों में दादा-दादी के साथ या नाना-नानी के साथ भी बच्चों का हंसी-मज़ाक का संबंध होता है। यहां हंसी-मज़ाक के संबंध अनौपचारिकता, आत्मीयता एवं असीमित स्वतंत्रता के माहौल में बच्चों के विकास में मदद करते हैं।

हंसी-मज़ाक के संबंध के विपरीत, एक प्रकार के निषेध का संबंध भी नातेदारों के बीच पाया जाता है। उदाहरण के लिए, एक स्त्री का अपने पति के बड़े भाई एवं पिता से निषेध का संबंध होता है। पति के पिता को श्वसुर (ससुर) एवं पति के बड़े भाई को जेठ या भसुर कहा जाता है। भसुर शब्द संस्कृत के शब्दों भातृ (भाई) एवं श्वसुर (ससुर) का सम्मिश्रण है, अतः इसका अर्थ होता है ससुर की तरह।

टेकनोनामी

टेकनोनामी की प्रथा भारत के कई ग्रामीण समुदायों में काफी लोकप्रिय है। यह बच्चों के नाम के आधार पर

माता-पिता के संबोधन की प्रथा है जैसे, रामू की मां या सीता के पिता जी। इस प्रथा का एक निहितार्थ यह है कि एक व्यक्ति अपने ससुराल में अपनी पहली संतान के बाद ही पूर्ण सदस्य बन पाता है। फलस्वरूप उसकी पहचान में (प्रथम) संतान का नाम जुड़ना स्वाभाविक बन जाता है।

भारत में नातेदारी व्यवस्था

भारत में नातेदारी व्यवस्था विवाह से संबंधित प्रथाओं एवं रीतियों की विविधता को अभिव्यक्त करती है। अखिल भारतीय स्तर पर भारत में नातेदारी के बारे में सामान्यीकरण करना संभव नहीं है। एक संगठन के रूप में यहां नातेदारी व्यवस्था काफी हद तक क्षेत्रीय संस्कृति का एक आयाम है। इरावती कर्वे ने भारत में नातेदारी व्यवस्था के चार क्षेत्रों (उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम) की चर्चा की है। कई अन्य लोग भारत में दो नातेदारी व्यवस्थाओं की चर्चा करते हैं: उत्तर भारतीय नातेदारी व्यवस्था एवं दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्था। उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्थाएं आर्य एवं द्रविड़ नातेदारी व्यवस्था के रूप में भी जानी जाती हैं।

उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्थाएं

दक्षिण भारतीय क्षेत्र में एक खास प्रकार के करीबी रिश्तेदारों, खासकर ममेरे, फुफेरे भाई-बहनों में विवाह विशेष रूप से पसंद किया जाता है, परंतु चचेरे या मौसेरे भाई-बहनों का विवाह कभी नहीं होता। कुल मिलाकर पति-पत्नी के माता-पिता (या आपस में विवाह करने वाले समूहों) की प्रस्थिति बराबर होती है। अक्सर दोनों समूह भौगोलिक रूप से एक-दूसरे के काफी नज़दीक होते हैं, कई बार तो एक ही गांव में रहते हैं। दुल्हन अपने विवाह संबंधियों से पूर्व परिचित होती है। दक्षिण भारत में नए वैवाहिक संबंध के द्वारा पूर्व स्थापित नातेदारी संबंध मज़बूत बनते हैं, परंतु नातेदारी का दायरा विस्तृत नहीं होता।

इसके विपरीत, उत्तर भारत में ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों के बीच विवाह की स्वीकृति नहीं है। सच तो यह है कि उत्तर भारत में पहले से नज़दीकी नातेदारी संबंधों में बंधे लोगों के बीच विवाह का निषेध है। सामान्यतः एक गांव या शहर के लोग भौगोलिक रूप से काफी दूर-दूर विवाह करना पसंद करते हैं। ज़्यादातर लोग ग्राम बहिर्विवाह के नियम को भी मानते हैं। इस क्षेत्र में नातेदारी संबंध के दायरे को विस्तृत करने पर ज़ोर दिया जाता है न कि पूर्व स्थापित संबंधों के दायरे को ज़्यादा गहरा करने पर। उत्तर भारतीय नातेदारी व्यवस्था में दुल्हन पति के परिवार में एकदम अपरिचित की तरह आती है। अपने वैवाहिक संबंधियों के द्वारा किए गए असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार के कारण वह कभी-कभी काफी निरीह महसूस करती है। उत्तर भारत में विवाह सामान्यतः सामाजिक रूप से असमान सामाजिक परिस्थिति वाले समूहों को जोड़ते हैं। वैवाहिक संबंध का संपादन सामान्यतः वर-मूल्य के रूप में होता है, जिसके कारण दुल्हन को समस्याएं झेलनी पड़ती हैं।

समकालीन भारत में नातेदारी

नातेदारी संबंध ज़्यादातर भारतीयों के लिए आज भी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। संकट काल में ज़्यादातर भारतीय प्राथमिक रूप से अपने नातेदारी संबंधों पर ही भरोसा करते हैं। जब किसी संबंधी की मृत्यु होती है तो नातेदारी से जुड़े सभी स्त्री-पुरुष शोक संतप्त परिवार को सहयोग देने के लिए तत्पर रहते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी नए स्थान में प्रव्रसन करता है तो वह सबसे पहले अपने रक्त या विवाह संबंधियों से ही

संपर्क करता है। जब किसी व्यक्ति को नौकरी की आवश्यकता होती है तो उसके संबंधियों द्वारा हर संभव मदद की जाती है। जब वह किसी नई जगह में जाता है तो शुरू में वह अपने संबंधियों के यहां ही ठहरता है। जब उसे विवाह करना होता है तो उसके विवाह के लिए प्रस्ताव उसके नातेदारी संबंधियों की मध्यस्थता से ही आता है। इसी प्रकार जब किसी परिवार में विवाह संपन्न होता है तो नातेदार ही दूल्हे तथा दुल्हन को उपहार देने का आवश्यक कर्तव्य निभाते हैं। अधिकांश भारतीयों के जीवन में नातेदारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। जाति, वर्ग एवं पड़ोस भी महत्त्वपूर्ण होता है परंतु नातेदारी की भूमिका इनमें से किसी से भी ज़्यादा प्रभावकारी होती है।

शब्दावली

एफिनिटी - एक सामाजिक संबंध जो विवाह पर आधारित होता है एफिनिटी या विवाह संबंध कहलाता है। उदाहरण के लिए, साला-बहनोई, जीजा-साली, देवर-भाभी आदि विवाह संबंधी होते हैं।

फैटरनल (भाईचारा) - वास्तविक या वर्गीकृत भाई से संबंध भाईचारा कहलाता है।

नातेदारी व्यवहार - नातेदारों का, एक-दूसरे के प्रति निभाया गया कर्तव्य नातेदारी व्यवहार कहलाता है। उदाहरण के लिए, अनुष्ठान के अवसर पर नातेदारों का आपस में उपहार लेना-देना नातेदारी व्यवहार है।

संस्कार - संस्कार हिंदुओं में समाजीकरण का सांस्कृतिक-धार्मिक उपाय है।

अभ्यास

1. विवाह क्या है? इसके विभिन्न प्रकारों की चर्चा कीजिए।
2. हिंदुओं में विवाह की प्रमुख विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
3. मुस्लिम विवाह (निकाह) एक समझौता है। इस कथन की व्याख्या करें।
4. भारत में ईसाई विवाह पर एक निबंध लिखिए।
5. परिवार से आप क्या समझते हैं?
6. संयुक्त परिवार के प्रकार्य क्या हैं?
7. संयुक्त परिवार के क्या अकार्य हैं?
8. संयुक्त परिवार में हो रहे परिवर्तनों पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।
9. नातेदारी क्या है? भारतीय समाज में नातेदारी के प्रकार्यों की चर्चा कीजिए।
10. नातेदारी व्यवहार क्या है? नातेदारी व्यवहार के सामाजिक आशय क्या हैं?
11. निम्नलिखित शब्दों की व्याख्या कीजिए :
    (क) एफिनिटी
    (ख) द्विपक्षीय वंश

(ग) हंसी-मज़ाक के संबंध

(घ) टेकनोनामी

12. भारत में ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों (क्रॉस-कज़िन) तथा मौसेरे एवं चचेरे भाई-बहनों (पेरलल-कज़िन) के परस्पर विवाह के बारे में बताइए।

संदर्भ-ग्रंथ

- जैन, शोभिता, ***भारत में परिवार, विवाह और नातेदारी***, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1996
- कर्वे, ईरावती, ***किनशिप ऑर्गनाइज़ेशन इन इंडिया***, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 1968
- शाह, ए. एम., ***द हाउसहोल्ड डाइमेनशंस ऑफ द फैमिली इन इंडिया***, ओरिएंट लौंगमेन, नई दिल्ली, 1974
- शाह, ए. एम., ***द फैमिली इन इंडिया : क्रिटिकल एसेज़***, ओरिएंट लौंगमेन, नई दिल्ली, 1998
- पैट्रिशिया, ओबेरॉय, (सं.), ***फैमिली, किनशिप एंड मैरिज इन इंडिया***, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1994

अध्याय 6

भारत में धर्म

परिचय

धर्म का संबंध मनुष्य की उत्कृष्ट आकांक्षाओं से है। इसे नैतिकता का प्रसाद माना जाता है। इसमें आंतरिक व व्यक्तिगत शांति एवं सामाजिक व्यवस्था के स्रोत निहित होते हैं। मानव जाति प्राय: अनिश्चितता की स्थिति में रहती है। जीवन की परिस्थितियों पर नियंत्रण करने की मानवीय क्षमता सीमित है। अतएव ऐंद्रिक अनुभवों से इतर मानवीय वास्तविकता से संबंध बनाने की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति धर्म के द्वारा होती है।

यद्यपि धर्म और अंग्रेज़ी शब्द 'रिलीजन' का एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग होता है लेकिन इन दोनों के अर्थ ठीक एक जैसे नहीं हैं। धर्म ब्रह्मांड के व्यवस्थागत नियमों की व्याख्या करता है, जबकि 'रिलीजन' विश्वासों एवं अनुष्ठानों को निरूपित करता है। धर्म मनुष्य के कर्मों से भी जुड़ा है और यह सामाजिक जीवन को नियमित एवं नियंत्रित करता है। इस प्रकार धर्म का अर्थ 'रिलीजन' से ज़्यादा व्यापक है।

एमिल दुर्खाइम के अनुसार धर्म पवित्रता से जुड़े संगठित मत व आचरण का समुच्चय है, जिसके अनुरूप निषेधित व्यवहारों की व्याख्या होती है एवं उससे जुड़े सभी लोगों का एक नैतिक समुदाय गठित होता है, जिसे चर्च कहा जाता है। धर्म की प्रस्तावना में पवित्र व अपवित्र तत्त्वों के बीच विभेद होता है।

अनेक समाजशास्त्रियों ने धर्म के अन्य पक्षों पर बल दिया है, उनके अनुसार यह ऐसी व्यवस्था है जिससे इसे मानने वाले जीवन, मृत्यु, बीमारी, सफलता, असफलता, सुख आदि के अर्थों से संबंधित समस्याओं का निदान ढूंढ़ते हैं। इस प्रकार ये कुल मिलाकर मानव जीवन को दिशा व अर्थ देता है।

धर्म के तीन पक्ष होते हैं – धार्मिक अनुष्ठान, विश्वास व संगठन। अनुष्ठान धार्मिक व्यवहारों से संबद्ध है। जबकि विश्वास का संबंध आस्था के स्रोतों और प्रतिमानों से है। वह क्रियाविधि जिसके द्वारा धर्म सदस्यों के व्यवहार, अपेक्षाओं, प्रस्थिति एवं भूमिका का प्रबंधन करता है वह धर्म का संगठनात्मक पक्ष है।

भारत एक बहुधर्मी देश है। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में 82 प्रतिशत हिंदू, 12.12 प्रतिशत मुसलमान, 2.3 प्रतिशत ईसाई, 1.94 प्रतिशत सिक्ख, 0.76 प्रतिशत बौद्ध, 0.40 प्रतिशत जैन व 0.44 प्रतिशत अन्य धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। अन्य धर्मों की श्रेणी में पारसी, यहूदी और जनजातीय समूहों के सदस्य आते हैं। स्पष्टत: भारत में लगभग सभी प्रमुख धार्मिक समूह पाए जाते हैं। परंपरागत रूप से सभी समूह एक दूसरे के विश्वासों एवं व्यवहारों का सम्मान करते हुए साथ-साथ रहते आए हैं।

भारत में विभिन्न धर्मों को वृहत रूप से दो समूहों में रखा जा सकता है :

1. **भारतीय मूल के धर्म :** हिंदू, जैन, बौद्ध व सिक्ख। इनके मूल भारत की प्राचीन धार्मिक परंपरा में देखे जा सकते हैं।
2. **सामी धर्म :** यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम। इनके मूल आदम व अब्राहम द्वारा स्थापित पैगंबर परंपरा में हैं।

भारत के प्रत्येक गांव या शहर में धर्म के प्रतीक मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर अथवा गुरुद्वारे के रूप में मिलते हैं। भारत में धर्म के दो पहलू हैं व्यक्तिगत व सामूहिक। भारत में धर्म के सामूहिक पहलू पर सर्वाधिक बल दिया जाता है।

भारत में धर्म, कानून व राज्य

भारत में धार्मिक विश्वासों की सहिष्णुता एवं विविधता की स्वीकृति उदाहरणीय है। बहुधर्मी भारत में सभी मतों के लोग अपनी धार्मिक आस्था को मानने एवं सुरक्षित रखने के लिए स्वतंत्र हैं। 'व्यक्तिगत कानून' के निर्देशों के तहत भारतीय संविधान सभी समुदायों के धार्मिक नियमों का सम्मान करता है। यह 'व्यक्तिगत कानून' परिवार, विवाह व उत्तराधिकार से जुड़े धार्मिक नियमों, रीति-रिवाजों एवं व्यवहारों से संबंधित है। विशेष रूप से यह अल्पसंख्यकों के संदर्भ में है।

भारतीय संविधान में धार्मिक बहुलतावाद से संबंधित कोई प्रावधान नहीं है लेकिन इसका कुल प्रभाव पंथनिरपेक्षता की ओर इंगित करता है। यह सभी धर्मों को समान महत्त्व देता है और इस प्रकार यह भारत की बहुलतावाद की परंपरा के अनुरूप है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 25 (1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करने, व्यवहार में लाने एवं उसका प्रचार- प्रसार करने का अधिकार देता है। यह सुविधा सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए सभी व्यक्तियों को दी गई है।

भारत में सामुदायिक जीवन पद्धति के रूप में धर्म

भारतीय समाज में धर्म का संबंध वस्तुत: समुदाय से है, न कि व्यक्ति से। भारतीय संविधान और भारतीय परंपराएं वैयक्तिक विश्वासों तथा व्यक्ति द्वारा ईश्वर तत्त्व की खोज को मान्यता प्रदान करती हैं। इस तरह के व्यक्तिगत प्रयत्नों को आध्यात्मिकता कहा जाता है, जबकि सामान्यत: धर्म की परिकल्पना नैतिक जीवन को सुनिश्चित करने के लिए सामूहिक प्रयास के रूप में की जाती है।

अब हम भारत में प्रमुख धार्मिक समूहों की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे :

भारत में हिंदू समुदाय

हिंदू धर्म का एक स्पष्ट आयाम यह विश्वास है कि ईश्वर किसी न किसी रूप में सर्वव्याप्त है तथा हम किसी भी स्वरूप में ईश्वर तक पहुंच सकते हैं। हिंदू समुदाय एक ईश्वर में विश्वास नहीं करता। हिंदू जीवन पद्धति विश्वासों एवं अनुष्ठानों के संदर्भ में लचीली है।

कोई भी विश्वास या अनुष्ठान हिंदुओं में एक जैसा नहीं है और मतों एवं अनुष्ठानों की विविधता हिंदुओं की एक विशिष्ट पहचान है। जाति व्यवस्था व संयुक्त परिवार हिंदुओं की मूलभूत संस्थाएं हैं, परंतु ये भारत के अन्य मतावलंबियों में भी पाए जाते हैं। हिंदू धर्म की सदस्यता जन्म से मिलती है। लेकिन आर्य समाज व कुछ अन्य आधुनिक पंथ इसके अपवाद हैं। ये नए सदस्यों का धर्मांतरण भी हिंदू धर्म में करवाते हैं। सदियों से अनेक विदेशी समूह जो भारत में आए क्रमश: जाति के लक्षणों को अपनाकर हिंदू धर्म से जुड़ गए ।

हिंदू धर्म में अत्यधिक अनेकता के बावजूद तीन केंद्रीय सिद्धांत स्पष्ट रूप से दार्शनिक स्तर पर परिलक्षित होते हैं – धर्म, कर्म एवं मोक्ष। धर्म एक नैतिक शक्ति है जो समस्त विश्व को एकीकृत करता

है। कर्म एक ऐसा सिद्धांत है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे या बुरे कर्म का फल भोगना पड़ता है। कर्म से कभी छुटकारा नहीं होता है। व्यक्ति प्राय: अपने जीवन में ही कर्म का फल प्राप्त करता है। यदि मृत्यु हो जाए तो पुनर्जन्म के द्वारा पूर्व कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इसे भाग्य या प्रारब्ध कहा गया है। वर्तमान कर्मों के द्वारा भाग्य में कुछ सीमा तक सुधार किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान के द्वारा भविष्य निश्चित होता है। मोक्ष वस्तुत: कर्मों एवं जन्म-मृत्यु के बंधनों से मुक्ति का पर्याय है। वर्तमान जीवन में भी सांसारिक मोह एवं संलिप्तता से मुक्ति पाकर मानसिक शांति प्राप्त की जा सकती है।

वर्णाश्रम हिंदू सामाजिक संगठन का लोकप्रिय उदाहरण है। यह नैतिक समुदाय की आदर्श रूपरेखा है जिसका संदर्भ ऋग्वैदिक काल से मिलता है। यह हिंदू समाज का चार श्रेणियों में प्रकार्यात्मक विभाजन प्रस्तुत करता है, वे हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण, बौद्धिक कार्य से जुड़े थे, क्षत्रिय देश की सुरक्षा से जुड़े थे, वैश्य व्यापार एवं वाणिज्य से जुड़े थे एवं शूद्र का काम सेवा करना था। इस प्रकार के श्रम-विभाजन का आधार प्रतीकात्मक था।

इस प्रकार का वर्गीकरण अनेक परंपराओं एवं समाजों में पाया जाता है। इस प्रकार के उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार प्रत्येक वर्ण के साथ विशिष्ट व्यवसाय जुड़ा होता है और इन दोनों को मानना व्यक्ति का धर्म होता है।

आश्रम, वर्ण की पूरक संस्था है। यदि वर्ण सामाजिक संगठन का सिद्धांत देता है तो आश्रम व्यक्ति के जीवन को संगठित करने का सिद्धांत है। यह अवधारणा जीवन को चार भागों में बांटती है : ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। ब्रह्मचर्य का संबंध विद्यार्थी जीवन से है, गृहस्थ का पारिवारिक जीवन से, वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति सांसारिक जीवन से विमुख होने का प्रयास करता है और संन्यास में सांसारिक जीवन से मुक्त होकर तपस्वी जीवन बिताता है।

आश्रम का महत्त्व पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। यह माना जाता है कि एक आदर्श हिंदू को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को समान महत्त्व देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हिंदू मान्यता के अनुसार संतुलित जीवन के लिए भौतिक व आध्यात्मिक दोनों पहलुओं को समान महत्त्व देना चाहिए।

यद्यपि शास्त्रीय ग्रंथों में आदर्श हिंदू के लिए सोलह संस्कारों की विवेचना है, लेकिन तीन धार्मिक संस्कार प्रचलित हैं : (1) दीक्षा-पवित्र यज्ञोपवीत (धागा) धारण करना, (2) विवाह संस्कार एवं (3) मृत्यु संस्कार। जीवन-चक्र के इन तीनों अनुष्ठानों में यज्ञोपवीत केवल द्विज जातियों के पुरुषों को दिया जाता है। प्राय: हिंदुओं द्वारा वयस्क मृतक के शरीर को दफन नहीं किया जाता है।

अत: हिंदू परिवारों में तीन प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान पाए जाते हैं: (1) जीवन चक्र से संबंधित जैसे दीक्षा-पवित्र यज्ञोपवीत धारण संस्कार, विवाह संस्कार एवं मृत्यु संस्कार इत्यादि। (2) घरेलू अनुष्ठान जैसे रक्षा बंधन या भाई दूज (भाइयों के लिए बहनों द्वारा किया जाने वाला व्रत), तीज व करवा चौथ (पतियों के लिए पत्नियों द्वारा किया जाने वाला व्रत), जितिया (बेटों के लिए मां द्वारा किया जाने वाला व्रत) और अन्य अनुष्ठान तथा (3) वार्षिक त्यौहार जैसे दिवाली, दशहरा, होली, ओणम, मकर संक्रांति, बैसाखी आदि उल्लेखनीय हैं।

भारत में तीर्थयात्रा भी सामुदायिक जीवन की एक विशेषता है। हिंदू भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित मंदिरों में दर्शन करने जाते हैं, पवित्र नदियों में स्नान करते हैं व पूर्वजों को जलार्पण भी किया जाता है। प्रयाग, वाराणसी, हरिद्वार, मदुरै, पुरी, द्वारका, बद्रीनाथ, केदार नाथ, श्रृंगेरी, तिरुपति, वैष्णो देवी, कामरूप-कामाख्या आदि कुछ धार्मिक स्थल हैं।

हिंदू लोग अभावग्रस्त एवं धार्मिक पूज्य लोगों को दान-दक्षिणा भी देते हैं। यह माना जाता है कि मानव कल्याण एवं दान तभी पुण्यात्मक होता है जब गुप्त रखा जाता है। प्रचारित दान को हीन माना जाता है।

भारतीय मूल के पंथ एवं धार्मिक समूह

हिंदू धर्म में अनेक संप्रदाय उल्लेखनीय हैं, जैसे वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत, कबीर पंथी, रैदास पंथी आदि। इन धार्मिक समूहों और विस्तृत हिंदू समाज के बीच परस्पर संबंध होता है। पंजाब में हिंदुओं एवं सिक्खों के बीच विवाह के उदाहरण मिलते रहे हैं। बौद्ध व हिंदुओं में भी वैवाहिक संबंध होते हैं। हिंदू बनियों व जैनों के बीच गहरे सामाजिक व सांस्कृतिक संबंध हैं।

बौद्ध व जैन प्रारंभिक संप्रदाय रहे हैं जिसके प्रभाव ने पुरोहितों के प्रभुत्व और जातीय प्रस्थिति के महत्त्व पर अंकुश लगाया। बौद्ध धर्म ने सभी जीवों के प्रति करुणा की भावना को धार्मिक महत्त्व प्रदान किया। जैन धर्म अहिंसा में विश्वास करता है।

तत्पश्चात दक्षिण भारत में भक्ति संप्रदाय का उदय छठी और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच और उत्तर भारत में चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच हुआ। इसके प्रभाव से उदारवाद प्रकाश में आया जिससे लोगों को आनुष्ठानिक व सामाजिक प्रतिबंधों से छूट मिली। साथ ही ईश्वर के समक्ष समानता का सिद्धांत प्रचलित हुआ। भारतीय मूल के अन्य पंथों में कबीर पंथ, रैदास पंथ, नानक पंथ, लिंगायत आदि प्रमुख भक्ति संप्रदाय जुड़े हैं।

औपनिवेशिक शासन काल में भारतीय समाज में अनेक नई सुधारवादी धाराएं उभरी। सुधार आंदोलनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि की स्पष्ट भूमिका रही है। सुधार के इन्हीं प्रयत्नों को अणुव्रत आंदोलन, भूदान आंदोलन व स्वाध्याय आंदोलन के रूप में हिंदू समाज में नए आयाम मिले।

भारत में मुस्लिम समुदाय

भारत में इस्लाम का आगमन सातवीं सदी ईसा पश्चात हुआ, जब अरब व्यापारी मालाबार तट पर प्रवासी के रूप में आए थे। आठवीं सदी ईसा पश्चात सिंध पर मुसलमानों की विजय के साथ ही हिंदू जातियों व जनजातियों का इस्लाम में धर्मांतरण प्रारंभ हुआ। ग्यारहवीं व अठारहवीं सदी के बीच भारत में तुर्कों, अफगानों, मुगलों व पारसियों के द्वारा आक्रमण हुआ। अतः भारत में इस्लाम तेरह सदी पुराना है। पश्चिम एशिया से आए मुस्लिम विजेताओं ने भारत की जीवन पद्धति को अपनाकर यहां सात शताब्दी तक शासन किया। आगंतुक मुस्लिमों जैसे व्यापारी, विजेता या सूफी संत आदि की संख्या इस्लाम में धर्मांतरित भारतीयों से कम ही थी। वर्तमान समय में भारत मुसलमानों की सर्वाधिक आबादी वाला तीसरा देश है।

इस्लाम धर्म के अनुसार केवल एक ही ईश्वर होता है एवं उसके प्रति समर्पण से शांति प्राप्त होती है। इस्लाम साधारणतः उस ईश्वर की इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण है, जिसे अरबी में अल्लाह कहते हैं। मुसलमान होने के लिए दो मुसलमान व्यक्तियों की साक्षी में एक ईश्वर यानी अल्ला की वरिष्ठता एवं मुहम्मद को अल्लाह के संदेशवाहक के रूप में स्वीकार करना पर्याप्त होता है। प्रथम साक्ष्य दैवीय सिद्धांत की एकता व दूसरा साक्ष्य मुहम्मद को अल्लाह के सर्वश्रेष्ठ अंतिम पैगंबर के रूप में स्वीकार करता है।

इस्लाम धर्म में अनेकों विचारधाराएं व विवेचनाएं हैं जो इस्लामी प्रकटीकरण के सिद्धांत पर आधारित हैं। यह सिद्धांत अनेकता में एकता का सूत्रपात करता है। मुसलमानों में मान्यता है कि कुरान ईश्वर का शाब्दिक रहस्योद्घाटन है और इस प्रकार मुसलमानों को कुरान के तथ्यों में विश्वास है। वे मृत्यु के उपरांत

के सिद्धांत में भी विश्वास करते हैं। वे सभी प्रमुख अनुष्ठानों में एकजुट होते हैं, जैसे दैनिक नमाज, रोज़ा और हज इत्यादि में।

भारत में भी मुसलमान अन्य जगहों की तरह दो संप्रदायों में विभाजित हैं– सुन्नी एवं शिया। पैगंबर की मृत्यु पर उत्तराधिकार के प्रश्न पर इन दोनों संप्रदायों में विभाजन हुआ। सुन्नी खलीफा एवं शिया इमामों ने एक-दूसरे के अधिकार को कभी भी स्वीकार नहीं किया।

भारत में सुन्नी शियाओं की तुलना में बहुसंख्यक है। अहमदिया, दाउदी बोहरा, इस्लामी खोजा आदि कुछ अन्य संप्रदाय हैं जो भारतीय मुसलमानों की पहचान कराते हैं। भारत में रहने वाले मुस्लिमों में जाति जैसे समूह पाए जाते हैं जैसे सैयद, शेख, खान, मलिक एवं अंसारी इत्यादि। ये वैवाहिक संबंधों के समय काफी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

इस्लाम की एक प्रमुख अवधारणा जिसके अनुसार इस ब्रह्मांड पर रहने वाले सभी मुसलमान आपस में एक उम्माह (संपूर्ण) हैं। उम्माह के द्वारा ऐसे इस्लामी भाईचारे की उत्पत्ति होती है जो किसी एक संजातीय, प्रजातीय या सांस्कृतिक सीमा के बाहर होता है। इस्लामी दृष्टिकोण के अनुसार धर्म जीवन का कोई पृथक विशिष्ट हिस्सा नहीं है बल्कि जीवन का एक ढंग है जिसमें कला, विश्वास, वाणिज्य, सामाजिक आदान-प्रदान, राजनीति जैसी सभी प्रक्रियाएं सम्मिलित हैं। इस्लाम में पवित्र और अपवित्र या आध्यात्मिक और पंथनिरपेक्ष के बीच विभेद नहीं किया जाता है। धर्म के प्रभाव क्षेत्र से बाहर कुछ भी नहीं माना जाता है। इस्लाम के आधारगत तत्त्वों में कुरान, पैगंबर, शरीयत, हदीस और तारिकात हैं।

इस्लाम की केंद्रीय नींव पवित्र ग्रंथ कुरान है। यह अल्लाह द्वारा कहे गए शब्दों का संग्रह है। ईश्वर ने अपने शब्दों को अपने दूत ज़िब्राइल के द्वारा पैगंबर मुहम्मद को रहस्योद्घाटित किया। कुरान के शब्द केवल अर्थों में ही नहीं बल्कि स्वरूप में भी पवित्र हैं।

पैगंबर मुहम्मद इस्लाम की दूसरी नींव है। वे ईश्वर की उत्कृष्ट रचना हैं जो ईश्वर के संवादों की व्याख्या व प्रसार के लिए चुने गए हैं। इस्लाम परम शक्ति अल्लाह पर निर्भर करता है न कि पैगंबर पर। इस्लामी श्रद्धा के केंद्र में पैगंबर के प्रति प्रेम स्पष्ट होता है। पैगंबर का प्रेम इस्लाम के सभी आयामों में सम्मिलित है। यह शरीयत और तारिकात दोनों को प्रभावित करता है जिसकी उन्होंने ही स्थापना की और निर्देशन किया।

हदीस इस्लाम का तीसरा महत्त्वपूर्ण आधार है। ये पैगंबर के परामर्शों व निर्देशों का उनके सहयोगियों एवं धर्मावलंबियों द्वारा किया गया संकलन है। इसमें विधि-विधान, नैतिक व आध्यात्मिक शिक्षा का विवरण है। कुरान में निहित अल्लाह के शब्दों व संवादों को समझने के लिए हदीस एक अनिवार्य निर्देशक ग्रंथ है।

शरीयत यानी इस्लाम के दैवीय विधि-विधान को इस्लाम की चौथी आधारशिला माना जाता है। मुस्लिम इसे ईश्वर की आकांक्षा का ठोस स्वरूप मानते हैं। मुसलमानों की ज़िंदगी में जन्म से लेकर मृत्यु तक की सभी प्रक्रियाओं में शरीयत का अनुसरण किया जाता है। शरीयत, एक मान्य पंथ है जिस पर सभी स्त्रियों व पुरुषों का चलना आवश्यक है। शरीयत के मूल तत्त्व कुरान में पाए जाते हैं और इसका निर्माता अल्लाह को माना जाता है।

इस्लाम की पांचवीं नींव है तारिकात या आध्यात्मिक पथ। यह इस्लाम का आंतरिक आयाम है। तारिकात को सुन्नी संप्रदाय की सूफी धारा और शियाओं द्वारा मान्यता प्राप्त है।

हज को इस्लाम का सर्वश्रेष्ठ तीर्थाटन माना जाता है जो मक्का में स्थित पवित्र काबा के दर्शन से संपन्न

होता है। मुस्लिम मान्यता के अनुसार अगर कोई व्यक्ति भक्ति और सद्भाव से हज करता है तो उसे पापों से माफी मिल जाती है।

इस्लामी व्यवहार एवं संस्थाएं

इस्लाम की प्रमुख धार्मिक प्रक्रियाओं में तौहीद, नमाज़, रोज़ा, ज़कात और हज, आते हैं। सभी मुसलमानों से पांच वक्त की नमाज़ पढ़ना अपेक्षित होता है। नमाज़ सऊदी अरब में स्थित मक्का में काबा की दिशा की ओर अदा की जाती है।

इस्लाम के नियमों के तहत संपत्ति की कुछ वस्तुओं पर वार्षिक रूप से अनिवार्य दान दिया जाता है जो कि धार्मिक उद्देश्यों एवं सहायता के लिए प्रयोग किया जाता है। मुस्लिम त्योहार पैगंबर मुहम्मद के जीवन व इस्लाम के इतिहास से संबंधित हैं। सभी मुस्लिम धार्मिक मामलों, निकाह (विवाह) और कोई अन्य उत्सव मनाने के लिए हिजरी पंचांग का अनुसरण करते हैं। मुस्लिम नववर्ष मुहर्रम से प्रारंभ होता है।

रमज़ान सबसे पवित्र नवां महीना होता है। इसके दौरान सुबह से शाम तक स्त्रियां व पुरुष आत्मशुद्धि के लिए उपवास रखते हैं। रमज़ान के महीने के उनतीसवें या तीसवें दिन शाम को चंद्र दर्शन के साथ ईद-उल-फितर त्योहार मनाया जाता है। सभी पुरुष सामुदायिक प्रार्थना के लिए ईदगाह जाते हैं, तत्पश्चात आपस में मेल-जोल व आलिंगन होता है। मुसलमानों के अन्य प्रमुख त्योहारों में ईद-उल-ज़ुहा (बकरीद), मोहर्रम, शब-ए-बरात आदि हैं।

भारत में ईसाई समुदाय

ईसाइयत की प्रमुख आधारशिलाओं में ईसा मसीह-पैगंबर के रूप में, नव विधान (न्यू टेस्टामैंट) उद्घाटित पुस्तक और धार्मिक संगठन के रूप में चर्च है। ईसा एवं उनके अनुयायी पहले यहूदी थे। लगभग पांचवीं सदी ईसा पश्चात सभी चर्चों द्वारा नव विधान को स्वीकृति मिली। उसके पूर्व केवल पुराना टेस्टामेंट या हिब्रू बाईबल या तौरा ही एक मात्र धर्मग्रंथ था। ईसाइयत व इस्लाम का मूल स्वरूप यहूदी परंपरा में है और ये दोनों धर्म पुराने टेस्टामेंट में वर्णित मूसा (मोसेस) के रहस्योद्घाटनों को मान्यता देते हैं।

ईसाई धार्मिक जीवन के तीन निर्णायक पक्ष हैं – (1) ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में ईसा मसीह में श्रद्धा व विश्वास, (2) सेवा और (3) पड़ोसी के लिए स्नेह, सहिष्णुता।

भारत में ईसाइयत का आगमन विभिन्न चरणों में हुआ। सीरियाई ईसाई परंपरा के अनुसार, ईसा के बारह शिष्यों में एक सर्वश्रेष्ठ एपोसल थॉमस ईसा पश्चात बावनवीं सदी में कोचीन के समीप आए थे। लगभग दूसरी सदी के अंत में भारत में एक ईसाई चर्च था। थॉमस या सीरियाई ईसाइयों ने अपनी प्राकृतिक सीमाओं को बढ़ाने का प्रयास नहीं किया।

भारत के ईसाई इतिहास में दूसरा चरण रोमन कैथोलिक ईसाइयों के आगमन से प्रारंभ होता है जो 1250 के दशक में फ्रांसीसकन व डॉमिनीकन शृंखला के मिशनरियों के आगमन के साथ शुरू हुआ। सन 1500 ई. के बाद भारत के पश्चिमी भाग पर पुर्तगाली अधिकार के साथ मिशनरियों का आगमन तेज़ हो गया। तीसरे चरण में प्रोटेस्टेंट की शुरूआत जुलाई 1706 में जर्मनी से प्रोटेस्टेंट मिशनरियों के आगमन से हुई।

ईसाइयत के प्रसार के चौथे चरण की शुरूआत भारत में अंग्रेज़ी शासन के दौरान हुई। सन 1793 में अंग्रेज़ी मूल के बैपटिस्ट मिशनरी विलियम केरे का आगमन हुआ जिन्होंने सघन प्रोटेस्टेंट गतिविधियों की शुरूआत की। सन 1757 और 1813 के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध रही, लेकिन बाद में कंपनी की नीतियां उनके अनुकूल हो गईं।

अंग्रेज़ी शासन काल में, 1833 के बाद, ईसाई गतिविधियां कलकत्ता, मद्रास व बंबई विश्वविद्यालयों में एवं ग्रामीण व जनजातीय क्षेत्रों, विशेषत: कमज़ोर वर्गों के बीच क्रियाशील थीं।

सन 1920 के दशक को पांचवां चरण माना गया है, जिसमें अमरीकी संस्था वाई. एम. सी. ए. (YMCA—Young Men's Christian Association) और कैथेरीन मेयो प्रभावशाली थे।

छठा चरण 1947 के बाद आता है। 1947 में दक्षिण भारतीय चर्च की स्थापना हुई थी, जिसमें चौदह बिशप-क्षेत्र (डायोस) एवं चार विभिन्न भाषाई क्षेत्रों में लगभग दस लाख सदस्य थे। ये रोमन कैथोलिक या लूथर के अनुयायी नहीं थे। सन 1970 में सांगठनिक स्तर पर ईसाइयत के भारतीयकरण के लिए उत्तर भारत में चर्च स्थापित हुए।

सन 1960 के मध्य में संपन्न हुई द्वितीय वेटिकन सभा के बाद भारत में रोमन कैथोलिक चर्च को पहले से लगाए गए प्रतिबंधों एवं सीमाओं से मुक्त किया गया। भक्ति परंपरा एवं मंदिर-व्यवस्था के बहुतेरे अवयवों को अपनाकर चर्च की पूजन-पद्धति का हिंदूकरण किया गया।

भारतीय जनगणना में ईसाइयों को एक समूह के रूप में माना गया है, लेकिन इसमें अनेक वैचारिक विभिन्नता वाले पंथ हैं। कैथोलिक सबसे बड़ा समूह है जो कुल ईसाई जनसंख्या का 50 प्रतिशत है। शेष 40 प्रतिशत प्रोटेस्टेंट व 7 प्रतिशत रूढ़िवादी एवं 6 प्रतिशत स्थानीय पंथ हैं।

कैथोलिक सुपरिभाषित संस्तरण के द्वारा संगठित है, जिसमें सबसे ऊपर पोप का स्थान होता है जो सभी धार्मिक मामलों में शीर्ष भूमिका निभाते हैं। प्रोटेस्टेंट समूह में अनेक विशिष्ट धारणाएं एवं चर्च आते हैं। रूढ़िवादी समूह जैसे सीरियाई ईसाई अपना संबंध पूर्वी यूरोप के या पश्चिमी एशियाई या इन पर निर्भर चर्चों से जोड़ते हैं।

आज भी कुछ मामलों में केरल के सीरियाई ईसाई व हिंदुओं के बीच भिन्नता अस्पष्ट है जैसे मकान बनाने में किए गए अनुष्ठान या ज्योतिष विद्या में विश्वास। सीरियाई वैवाहिक और जन्म से संबंधित अनुष्ठान भी हिंदुओं से मिलते-जुलते हैं, विशेषकर आनुष्ठानिक अवयवों के उपयोग में जैसे चंदन की लकड़ी का पाउडर, दूध, फूल, सुपारी व चावल आदि का उपयोग।

तमिलनाडु व गोआ में ईसाइयत स्पष्ट रूप से स्थानीय (देसी) सामाजिक आनुष्ठानिक व्यवस्था में स्थित है।

तीर्थाटन

प्रोटेस्टेंट ईसाई तीर्थाटन के लिए नहीं जाते, किंतु इनमें एंगलिकन विचारधारा को मानने वाले इसके अपवाद होते हैं। कैथोलिक एवं रूढ़िवादी प्राय: त्योहारों के अवसर पर तीर्थाटन करते हैं। अधिकांश तीर्थ स्थल वहां हैं जहां ईसाई जनसंख्या का घनत्व ज्यादा है, जैसे गोआ, केरल, तमिलनाडु, चेन्नई, मुंबई व कोलकाता इत्यादि।

भारत में रोमन कैथोलिक पोप (रोम के बिशप) को सर्वोच्च धार्मिक नेता मानते हैं। भारतीय कैथोलिकों के लिए धार्मिक निर्देश वाले दो केंद्र हैं एक मुंबई में और दूसरा एर्नाकुलम में। भारत में कुल 120 बिशप हैं। भारत में ईसाई पादरियों के पैंतीस धार्मिक संघ हैं।

धर्मानुष्ठान

रोमन कैथोलिक चर्च में किसी पादरी या बिशप द्वारा सात पवित्र पर्व कराए जाते हैं। ईसाई बनने की प्रक्रिया बपतिस्मा कहलाती है। यह तब संपन्न कराया जाता है जब बच्चा कुछ ही दिनों का होता है। कैथोलिकों में इसका पुष्टिकरण तब होता है जब कोई बच्चा सात वर्ष का होता है, लेकिन प्रोटेस्टेंटों में ये तब होता है जब बच्चा पंद्रह साल का हो। बच्चे को

पादरी द्वारा कई महीनों तक ईसाइयत के प्रमुख सिद्धांतों व मान्यताओं का ज्ञान दिया जाता है। इसके बाद ही बच्चे को पादरी द्वारा एक ईसाई के रूप में मान्यता मिलती है। विवाह के अनुष्ठान चर्च में पादरियों द्वारा विधिवत संपन्न किए जाते हैं।

ईसाई समूहों में जातीय समूह जैसे लक्षण पाए जाते हैं। संयुक्त परिवार इनकी प्रमुख संस्था होती है। एंग्लो-इंडियन को छोड़कर अन्य ईसाइयों की जीवन पद्धति में बहुत भिन्नता नहीं होती है और वे प्राय: स्थानीय आंचलिक भाषाएं बोलते हैं।

जैन धर्म

भारत में प्राचीनतम धर्मों में एक जैन धर्म भी है। यह भी एक प्रकार का सनातन धर्म है, जिसमें कुल 24 तीर्थंकर हुए। पहले तीर्थंकर ऋषभदेव एवं सबसे अंतिम महावीर थे। तीर्थंकर उत्कृष्ट शिक्षक हैं। जैनों के सिद्धांत, अनुष्ठान व सामान्य धार्मिक मान्यताएं हिंदुओं व बौद्धों से मिलती-जुलती हैं, लेकिन उनकी अपनी सांप्रदायिक पद्धति है। महावीर को बुद्ध के समकालीन माना जाता है। वे इस धर्म व्यवस्था के संस्थापक थे। जैन समुदाय दो मतों में विभाजित हैं : श्वेतांबर (सफेद वस्त्र वाले) और दिगंबर (निर्वस्त्र)। एक अन्य अल्प ज्ञात मत है स्थानकलासी, जिनके विचारों में तीर्थंकरों को प्रतिमा में निरूपित करने की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत श्वेतांबरों के विचारों में तीर्थंकरों की प्रतिमा को श्वेत वस्त्रों में निरूपित किया जाना चाहिए, जबकि दिगंबर उन प्रतिमाओं को निर्वस्त्र देखना चाहते हैं।

जैन शब्द की उत्पत्ति 'जिन' से हुई है जिसका मतलब 'विजेता' होता है। महावीर (599-527 ईसा पूर्व) के विचारों के अनुसार प्रत्येक सजीव या निर्जीव में 'जीव' होता है। मनुष्य के प्रयत्नों का लक्ष्य तीन व्यावहारिक नियमों के अनुरूप कर्म करना होना चाहिए, जिनमें हैं: सम्यक विश्वास, सम्यक ज्ञान व सम्यक आचरण। सम्यक आचरण तभी सटीक होता है जब इसमें अहिंसा, सत्यपरायणता, ब्रह्मचर्य, एवं लौकिक संपत्ति का परित्याग सम्मिलित हो।

जैन धर्मावलंबी आत्मा, कर्म के सिद्धांत, जीवन-मृत्यु चक्र में हिंदुओं की तरह ही विश्वास करते हैं, हालांकि जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में ज़्यादा समानताएं हैं । दोनों ही सनातन धर्म के श्रमण रूप हैं। श्रमण परंपरा लौकिक अवलंबों एवं आनंद के त्याग का परामर्श देती है। इसका लक्ष्य जीवन-मृत्यु चक्रों से मुक्ति प्राप्त करना होता है। मुक्ति (कैवल्य) एवं संन्यास (वैराग्य) इसके दो प्रमुख सिद्धांत हैं।

उपवास एवं तपस्या सभी जैनांवलंबियों की स्व-शुद्धि के लिए आवश्यक है। स्व-नियंत्रण, वैचारिक शक्ति में वृद्धि एवं विचारों की शुद्धि के लिए मानसिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। इन प्रक्रियाओं द्वारा उपलब्ध व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास को सामुदायिक लाभ के लिए सुलभ करने की धार्मिक प्रतिबद्धता होती है। महावीर के उपदेशों के अनुसार व्यक्तिगत ज़िंदगी में परहितवाद सकारात्मक सामाजिक कल्याण का स्रोत होता है। पंचतही अनुशासन में अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, लैंगिक शुद्धि एवं भौतिक प्राप्ति पुण्य के लिए नहीं बल्कि समस्त सामुदायिक कल्याण के लिए होते हैं।

इस धर्म में प्रचलित त्योहारों का उद्देश्य त्याग पर आधारित तपस्या के द्वारा स्व का आध्यात्मिक विकास है। महावीर जयंती सबसे प्रचलित त्योहार है। जैन समुदाय भारत के सर्वाधिक समृद्ध समुदायों में है और वे वाणिज्य व्यापार की गतिविधियों में ज़्यादा लगे होते हैं।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म भारत में छठी सदी ईसा पूर्व हुए नव-धार्मिक आंदोलन की प्रतिष्ठित परिणति है। इसके

मूल में पारंपरिक भारतीय सनातन धर्म हैं। इसका अस्तित्व गौतम बुद्ध के उपदेशों पर आधारित है।

बौद्ध मत की घोषणा को 'त्रि-आश्रय' या 'तीन रत्न' के रूप में जाना जाता है, जिसमें बुद्ध, धम्म व संघ आते हैं। बुद्ध एक बोधिसत्व प्राप्त शिक्षक (उपदेशक) हैं। धम्म बुद्ध द्वारा दिया गया सिद्धांत है एवं संघ वह समुदाय है जो बुद्ध द्वारा दिए गए सिद्धांतों में विश्वास रखता है। कोई भी इन तीन आश्रयों को तीन बार उच्चारित करके बौद्ध बन सकता है, उदाहरणस्वरूप मैं बुद्ध की शरण में जाता हूं (बुद्धं शरणम् गच्छामि), मैं धम्म की शरण में जाता हूं (धम्मं शरणम् गच्छामि), मैं संघ की शरण में जाता हूं (संघम् शरणम् गच्छामि)।

धम्म के चार अर्थ हैं : (1) परम सत्य, (2) सम्यक आचरण, (3) धर्म सिद्धांत और (4) अनुभव का अनंत स्वरूप। प्रथम तीन अर्थों को हिंदू धर्म में भी देखा जा सकता है, लेकिन चौथा बौद्ध धर्म की विशिष्टता है।

बौद्ध धर्म के अनुयायी गौतम बुद्ध के बताए चार महान सत्यों में विश्वास करते हैं। पहले के अनुसार संसार में 'पीड़ा' व्याप्त है। दूसरा पीड़ा का कारण 'इच्छा' बताता है। तीसरे महान सत्य के अनुसार पीड़ा के कारण को दूर किया जा सकता है और इन कारणों को दूर करने के लिए विस्तृत उपायों की व्याख्या चतुर्थ महान सत्य में मिलती है।

बौद्ध धर्म में अष्टमार्ग की विवेचना की गई है जिसमें सम्यक दृष्टि, सम्यक आकांक्षा, सम्यक वाक, सम्यक कर्म, सम्यक जीविका, सम्यक प्रयत्न, सम्यक मनःस्थिति और सम्यक चिंतन आते हैं। ये अष्टमार्ग निर्वाण की ओर ले जाते हैं जिससे सभी पीड़ाओं से मुक्ति मिलती है। चार महान सत्य एवं अष्टमार्ग निर्देशक तत्त्व हैं।

बौद्ध धर्म के मुख्य ग्रंथों में 'विनय पिटक' (अनुशासन की व्याख्या), 'सूक्त पिटक' (उपदेशों की व्याख्या) और 'अभीधम पिटक' (धर्मनीतियों की व्याख्या) हैं। बौद्ध धर्म के चार प्रमुख स्वरूप हैं– (क) हीनयान, (ख) महायान, (ग) व्रजयान या तंत्र और (घ) जेन। भारत के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में इसके विभिन्न स्वरूप प्रचलित हैं।

भारत में सबसे महत्त्वपूर्ण बौद्ध त्योहार बुद्ध पूर्णिमा है। अनेक मतों को मानने वाले बौद्ध कुछ अन्य त्योहार भी मनाते हैं। अनेक बौद्ध परिवारों द्वारा हिंदू त्योहार जैसे होली, दीपावली और मकर संक्रांति भी मनाए जाते हैं।

सिक्ख धर्म

भारतीय धर्मों की शृंखला में सिक्ख धर्म का उदय गुरु नानक के उपदेशों (1469–1539) पर आधारित है। 'सिक्ख' शब्द का मूल संस्कृत शब्द 'शिष्य' है जिसका अर्थ गुरु के मार्गों पर चलने वाला होता है। नानक ने समस्त भारत, श्रीलंका, मक्का और मदीना का भ्रमण किया। उन्होंने भक्ति पद-गान करते हुए स्नेह, पवित्रता व वैश्विक भातृत्व के संवादों को सर्वत्र फैलाया।

सिक्खों के दस गुरु हैं, जिनमें गुरु नानक प्रथम एवं गुरु गोविंद सिंह दसवें थे। अर्जुनदेव पांचवें गुरु थे जिन्होंने 'गुरु ग्रंथ साहिब' का संकलन किया। इस ग्रंथ में गुरु अर्जुनदेव के पद अनेक भक्ति-संतों के पद व सिक्ख गुरुओं के उपदेश संकलित हैं। गुरु अर्जुन ने सिक्ख धर्म में अपरिमित ऊर्जा का संचार किया। अमृतसर को उन्होंने अपना मुख्य केंद्र बनाया एवं वहां गुरुद्वारे का निर्माण कराया। उन्हीं के समय से सिक्ख धर्म क्रमशः योद्धा संगठन के रूप में प्रकट होने लगा।

दसवें गुरु गोविंद सिंह (1675–1708) ने भी सिक्खों को योद्धा समुदाय में परिणत किया एवं इसे खालसा (विशुद्ध) नाम दिया। 1699 में अपने पांच

अनुयायियों (पंज प्यारे) का चयन कर उन्होंने सिक्खों को विशेष व्यक्तिगत पहचान दी। उन्होंने उन सब को पांच प्रबोधन दिए जिसके अनुसार वे कभी बाल नहीं काटेंगे, सदैव कंघी रखेंगे, कच्छा पहनेंगे, कड़ा पहनेंगे एवं किरपान (छुरा) रखेंगे। इस प्रकार ये पांच 'क' हैं जो सभी सिक्ख स्मरण रखते हैं – केश, कंघा, कच्छा, कड़ा व किरपान। सिक्ख समुदायों के जीवन में गुरुद्वारा एक प्रमुख केंद्र होता है। यह 'गुरु ग्रंथ साहिब' की पूजा एवं श्रद्धा का प्रमुख केंद्र होता है।

सिक्खों को दो समूहों में बांटा जाता है। (क) सनातनी समूह (ख) खालसा समूह। सनातनी सिक्ख गुरुनानक और उनके पुत्र श्रीचंद के अनुयायी हैं। ये सिक्खों की पृथक पहचान पर बल नहीं देते, बल्कि विस्तृत हिंदू धर्म के अंग के रूप में माने जाते हैं। खालसा सिक्ख गुरु गोविंद सिंह के आमूल परिवर्तनवादी उपदेशों पर आधारित हैं। ये अपनी पहचान हिंदू धर्म से सर्वथा पृथक सच्चे सिक्खों के रूप में करते हैं। खालसा सिक्ख अपने धर्म को स्वतंत्र घोषित करते हुए तीन आधारों पर इसकी व्याख्या करते हैं - गुरु, ग्रंथ व गुरुद्वारा।

1925 में गुरुद्वारा अधिनियम प्रभाव में आया, जिससे शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का उदय सिक्खों की सर्वश्रेष्ठ संस्था के रूप में हुआ। ये सिक्खों की धार्मिक गतिविधियों एवं गुरुद्वारों का प्रबंधन करती है।

सिक्ख हिंदुओं के कुछ त्योहार जैसे वसंत पंचमी, होली, दीपावली मनाते हैं। सिक्ख अपने त्योहारों में बैसाखी, गुरुओं के जन्म दिवस जैसे गुरु नानक जयंती, गुरु गोविंद जयंती एवं गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविंद सिंह के दोनों पुत्रों का शहादत दिवस मनाते हैं।

सिक्ख समुदाय के लोग भी जैन समुदाय की तरह समृद्ध होते हैं। वे शहरों व गांवों में विभिन्न व्यवसायों में संलग्न हैं। यद्यपि सिक्ख धर्म में जाति व्यवस्था को मान्यता प्राप्त नहीं है लेकिन फिर भी जाति जैसे समूह सिक्खों में पाए जाते हैं।

अन्य धार्मिक समूह

पारसी (ज़ोरासट्रियन) - पारसी शब्द का संबंध पारसी भाषा व संस्कृति से है और ये उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो दसवीं सदी ईसा पश्चात ईरान से भारत आए थे। पारसी समुदाय ज़रथ्रुष्ट को पैगंबर मानता है। ज़रथ्रुष्ट को ज़ोरोस्टर भी कहा जाता है, अतः उनसे संबंधित धर्म को ज़ोरासट्रियन भी कहा जाता है।

विश्व के प्राचीनतम पैगंबरों से संबद्ध धर्मों में ज़ोरासट्रियन भी एक है। लगभग 6000 ईसा पूर्व ज़ोरास्टर (ज़रथ्रुष्ट) ईरान के उत्तरपूर्व में एशियाई मैदानों के निकट रहा करते थे। उन्होंने भारतीय-ईरानी परंपरा को विरासत में प्राप्त किया जो हिंदू धर्म व पारसी धर्म की पैतृक समानता में स्पष्ट होती है। अग्नि का समान महत्त्व इन दोनों धर्मों के प्राचीन ग्रंथों (वेदों व अवेस्ता) में प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त पवित्रता के नियम और पुजारियों के प्रति श्रद्धाजनक दृष्टिकोण भी इस समानता का संकेत है।

पैगंबर के उपदेशों को गैथिक अवेस्तन भाषा में संग्रहित किया गया है। इस भाषा का गहरा संबंध वैदिक संस्कृत से है। सातवीं सदी ईसा पश्चात के मुस्लिम अरब आक्रमण से पूर्व तक पारसी धर्म को ईरान में राज्यकीय धर्म की प्रतिष्ठा प्राप्त थी, परंतु उन्नीसवीं शताब्दी में ईरान में पारसियों का उत्पीड़न असहनीय हो गया जिसके कारण ये लोग भारत व अन्य देशों को पलायन करने लगे।

अधिकांशतः भारतीय पारसी शहरों में रहते हैं। ये मुख्यतः मुंबई व गुजरात के विभिन्न भागों में बसे हुए हैं। पारसी भारत के समृद्ध समुदायों में हैं। अन्य भारतीय अल्पसंख्यकों में पारसी समुदाय भारत की

मुख्यधारा में पूर्णतः सम्मिलित हैं। दादाभाई नौरोजी, फीरोज़ शाह मेहता व टाटा परिवार ने आधुनिक भारत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आधुनिक व्यापार व औद्योगिक उपक्रमों में वे अग्रणी रहे। मुंबई के अनेक संस्थानों के गठन में उनके योगदान की अनदेखी असंभव है।

पारसी धार्मिक अध्ययन में अत्यल्प समय व्यतीत करते हैं। उनका धर्म मुख्यतः उनकी स्थैतिक पहचान में समाहित है। वे अपनी पहचान की महत्ता जीवन-चक्र अनुष्ठानों के माध्यम से व नैतिक व्यवहारों द्वारा बनाए रखने की चेष्टा करते हैं। पवित्रता व अपवित्रता के विचार पारसी लोगों के बीच सशक्त होते हैं। उनकी दैनिक प्रार्थना को नवजोत कहा जाता है। उनके धार्मिक कर्तव्यों में दैनिक प्रार्थना करना और मौसमों के साथ आने वाले त्योहार (गहमबरस) मनाना होता है।

यह धर्म वस्तुतः प्रकृतिपूजक था। प्राकृतिक तत्त्व, जैसे - अग्नि, वायु, जल व सूर्य को पवित्र माना गया था। वर्तमान में पारसी मुख्यतः अग्नि पूजक हैं। पारसियों के तीर्थस्थल उड़वाड़ा में एक अग्नि-वेदि स्थापित है। दो प्रकार के अग्नि-मंदिर हैं जिनके बीच अंतर वहां स्थित अग्नि की प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। पहले प्रकार की अग्नि को 'राजसी बहरम' या 'पराक्रमी अग्नि' कहते हैं, जबकि दूसरे प्रकार को 'दर-ए-मिहर' या 'साधारण अग्नि' कहते हैं।

पारसी समुदाय अपनी परोपकारी प्रवृत्तियों के लिए जाने जाते हैं। परोपकार के विभिन्न आयाम उनकी सामाजिक सुरक्षा हेतु स्थापित पंचायत द्वारा सुनिश्चित होते हैं। पंचायत के सदस्य स्थानीय अंजुमन में आर्थिक दान कर सहयोग करते हैं। इससे पारसियों के अलावा गैर-पारसी समुदाय भी लाभान्वित होते हैं। स्पष्टतः मानव कल्याण को नैतिक व नागरिक उत्तरदायित्व मानने वाला यह समुदाय किसी क्षेत्र विशेष एवं अधिकारों की घोषणा नहीं करता है।

यहूदी धर्म

यहूदी धर्म भारत में सबसे छोटा धार्मिक समुदाय है। सन 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में केवल 5000 यहूदी थे। इनका वर्गीकरण जनगणना में ज़ोरासट्रियन व जीववादी जनजातियों व अन्य धार्मिक समूहों के साथ रखा गया है।

भारत में यहूदी समुदाय तीन प्रकार के हैं बनी-इज़राइल, केरल यहूदी और बगदादी यहूदी। कुछ यहूदी भारत में ईसाई युग के पहले आ चुके थे। इनमें सबसे प्राचीन बनी-इज़राइल हैं जो महाराष्ट्र के तटीय क्षेत्रों में आकर बसे थे। दूसरा समूह केरल में कोचीन के निकट बसा हुआ है। तीसरा समूह मध्य-पूर्व (बगदाद) से आया और मुंबई, कोलकाता, पुणे, सूरत और चेन्नई में आकर बसा। उनमें से अधिकांश प्रवसन कर 1948 में भारत से इज़राइल चले गए।

यहूदी धर्म को वास्तविक हिब्रू या सामी धर्म माना जाता है। यह मूसा द्वारा रहस्योद्घाटित धार्मिक विचारों पर आधारित है। उनका धर्मग्रंथ 'तौरा' (हिब्रू बाईबल) है। उनके मंदिर को सिनेगॉग कहा जाता है। अब्राहम के नेतृत्व में यहूदी इज़राइल में बसे जिसे कैनन व बाद में फिलिस्तीन कहा गया। 63 सदी ईसा पूर्व में फिलिस्तीन रोमन शासन के अंतर्गत रहा एवं 70 ईसा पश्चात से 1948 तक यहूदी विभिन्न स्थानों पर बिखरे समूहों में रहे। सन 1948 में यहूदी समुदाय ने अपने देश इज़राइल की पुनर्स्थापना की।

यहूदी समुदाय भारत की स्थानीय सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में स्वीकृत हो गया। उन्होंने यहां के रिवाजों, वेशभूषा, दैनिक व्यवहार आदि को स्वीकार कर लिया। यह एक सजातीय समूह है जिसमें धार्मिक मान्यताओं का अनुशासनपूर्वक पालन किया जाता है। ईसाई धर्म एवं इस्लाम से भिन्न इसमें गैर-यहूदी लोगों के लिए कोई प्रवेश नहीं होता। इनमें धर्मांतरण का प्रचलन नहीं है।

जीववादी

अधिकांश जनजातियां जो हिंदू, ईस्लाम या ईसाई धर्म में परिवर्तित नहीं हुई हैं, समाजशास्त्रियों द्वारा जीववादी कही जाती हैं (जो प्रकृतिपूजक होते हैं)। जीववादी जनजातियों व लोक हिंदू धर्म को मानने वालों में काफी समानताएं देखी गई हैं। इसीलिए भारतीय जनगणना के दौरान जीववादियों के विषय में स्पष्ट निर्णय लेने में कठिनाई होती है। 1991 की जनगणना में जीववादी जनजातियों को अन्य धार्मिक समूहों की श्रेणी में रखा गया जबकि कुछ अन्य जनजातियों को हिंदू कहा गया। अतः हिंदू जनजाति व जीववादी जनजाति के बीच सदैव अस्पष्टता देखी गई है। दोनों ही समूहों में विभिन्न प्रकार के प्रकृतिपूजक पाए जाते हैं, लेकिन सभी जीववादियों के बीच एक समान तथ्य यह है कि उनका कोई लिखित ग्रंथ नहीं है। वे इस दुनिया की सभी अनुप्राणित वस्तुओं में आत्मा का सत्त्व देखते हैं और उसे पूज्य मानते हैं।

धर्म की सामान्य विशेषताएं

धर्म वस्तुतः समाज व संस्कृति के अन्य पक्षों से जटिलता से जुड़ा है। यह समाज व व्यक्ति के संबंध में निम्न सकारात्मक प्रकार्यात्मक योगदान करता है :

1. यह व्यक्तियों को अनिश्चितता, निराशा, लक्ष्यों व नियमों के प्रतिकूल होने की स्थिति में सहारा, सांत्वना, व सामंजस्य प्रदान करता है।
2. धर्म के द्वारा पुजारियों व पूजनोत्सवों के माध्यम से 'अन्य ब्रह्मांड' से संबंध की स्थापना होती है।
3. धर्म सामाजिक नियमों व मूल्यों को दैवीय महत्ता प्रदान करता है।
4. धर्म मूल्यों का मानक भी उपलब्ध कराता है जिसके अनुसार सामाजिक नियमों का आलोचकीय विश्लेषण किया जा सकता है।
5. धर्म की विशिष्टताओं में पुजारियों द्वारा संपन्न अनुष्ठान व पूजन हैं जिनमें सभी धर्मावलंबी सम्मिलित होते हैं।

इसके अतिरिक्त धर्म के कुछ नकारात्मक पहलू भी हैं :

1. धर्म सामाजिक परिवर्तन के लिए विरोध को रोक सकता है जो कि समाज एवं उसके सदस्यों के कल्याण के लिए हानिकारक साबित हो सकता है।
2. कुछ दुर्नम्य (कठोर) विचारों को धर्म के द्वारा आधिकारिक शक्ति प्राप्त हो सकती है और संकीर्ण विचारधारा को बल प्राप्त हो सकता है, जो कुल मिलाकर ज्ञान के विकास (विशेषकर विज्ञान व तकनीकों के विकास) में बाधा उत्पन्न करती है।
3. अनेक धर्मों वाले समाज में धार्मिक पहचान व उससे संबंधित ईर्ष्या एवं असहनशीलता विभाजक शक्ति के रूप में कार्य कर सकती है।
4. धार्मिक संगठनों को परिपक्व एवं विवेकी बनाने की बजाय धर्म उन्हें स्वयं पर निर्भर बनाता है।

शब्दावली

बपतिस्मा – ईसाई धर्म में प्रवेश के लिए किया जाने वाला धार्मिक अनुष्ठान।

एकाधिदेववाद – अनेक देवताओं में से किसी एक विशेष देवता को जनजाति या समूह या परिवार का इष्ट मानने की धार्मिक व्यवस्था को एकाधिदेववाद कहते हैं।

पूजन पद्धति (लिटरजी) - चर्च में व्यस्थापित मानक धार्मिक सेवा को लिटरजी कहते हैं।
मठवाद - मठ से प्रभावित जीवन शैली को मठवाद कहा जाता है।
सर्वेश्वरवाद - इस मत के अनुसार संसार के समस्त पक्षों में ईश्वर स्थित है, मानव जाति एवं प्रकृति उसी सर्वव्याप्य दैवीय व्यवस्था के अंग हैं।
परित्याग - परित्याग एक औपचारिक अनुष्ठानात्मक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति की आत्म विस्मृति, संन्यास, गृहस्थी एवं सांसारिक सुखों का त्याग महत्त्वपूर्ण होता है।
सांसारिक तपस्या - संसार में रहते हुए स्वार्थी लालसाओं से परे हो जाना।

अभ्यास

1. रिलिजन (धर्म) का क्या अर्थ है ?
2. भारत के विभिन्न धार्मिक समूहों की विवेचना कीजिए ।
3. सामी व भारतीय धार्मिक समूहों के उदाहरण व उनके बीच भिन्नता बताते हुए एक लेख लिखिए।
4. धर्म से आप क्या समझते हैं ?
5. वर्णाश्रम धर्म के सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
6. पुरुषार्थ से क्या समझते हैं ? वर्णन कीजिए।
7. भारत में हिंदू समुदाय की विशिष्टताओं का विश्लेषण कीजिए।
8. भारत में मुस्लिम समुदाय के जीवन का वर्णन कीजिए।
9. भारत में ईसाई समुदाय के जीवन का वर्णन कीजिए।
10. ईसाई आध्यात्मिक जीवन के तीन प्रमुख अवयवों की विवेचना कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- डंकन, जे. और डेरेट, एम., **रिलिजन, लॉ एंड द स्टेट इन इंडिया**, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1999
- गोपाल, लल्लन जी और दुबे, डी. पी., (सं.), ***पिलग्रिमेज स्टडीज़, टैक्स्ट एंड कंटैक्स्ट***, द सोसाइटी ऑफ पिलग्रिमेज स्टडीज, इलाहाबाद, 1990
- मदन, टी. एन., (सं.), ***रिलिजन इन इंडिया***, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1992
- श्रीनिवास, एम. एन., ***कॉस्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर ऐसेज़***, मीडिया प्रमोटर्स एंड पब्लिशर्स, मुंबई, 1962/1985
- वेणुगोपाल, सी. एन., ***रिलिजन एंड इंडियन सोसाइटी : ए सोशियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव***, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1998

अध्याय 7

भारत में शिक्षा

भूमिका

शिक्षा एक बच्चे की अंतर्निहित क्षमता तथा उसके व्यक्तित्व को विकसित करने वाली प्रक्रिया है। यह उसे समाज में एक वयस्क की भूमिका निभाने के लिए समाजीकृत करती है तथा एक उत्तरदायी नागरिक एवं समाज के सदस्य बनने के लिए व्यक्ति को आवश्यक ज्ञान तथा कौशल उपलब्ध कराती है। समाजीकरण की प्रक्रिया के एक अंग के रूप में यह नए सदस्यों के मन में समाज की सांस्कृतिक विरासत, मानकों एवं मूल्यों का आत्मसातीकरण करती है। समाजीकरण एक प्राथमिक तथा अनौपचारिक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत एक व्यक्ति दूसरों की सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप अपने व्यवहारों को ढालता है।

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही काफी विकसित शिक्षण संस्थाएं रही हैं। भारतीय संस्कृति गुरु-शिष्य परंपरा वाली शिक्षा के लिए विख्यात रही है। प्राचीन भारत में नालंदा एवं तक्षशिला जैसे महान विश्वविद्यालय थे। 18वीं शताब्दी के दौरान बंगाल में नवद्वीप, उत्तर प्रदेश में वाराणसी, उड़ीसा में पुरी तथा तमिलनाडु में मदुरै एवं कांची जैसे अध्ययन केंद्र थे।

पारंपरिक भारत में, शिक्षा के आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया जाता था। शिक्षा का अर्थ व्यक्ति को परम सत्य का साक्षात्कार कराना था। इसमें निम्नलिखित क्षेत्र एवं विषय सम्मिलित थे :

1. आलोचनात्मक अन्वेषण : दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, गणित, साहित्य, व्याकरण इत्यादि।
2. तकनीकी तथा व्यावसायिक कुशलता एवं ज्ञान : आयुर्वेद, कृषि, वास्तुशास्त्र, काष्ठकला, कुंभकारी इत्यादि।
3. आंतरिक अनुशासन, अध्यात्म एवं नैतिक मूल्य, धर्म, योग, साधना इत्यादि।

भारत में पारंपरिक शिक्षा का प्रतिमान कई शताब्दियों तक रहा। ग्यारहवीं शताब्दी से जिन क्षेत्रों में मुस्लिम शासन स्थापित हुआ, वहां शासकों ने मकतबों एवं मदरसों के रूप में मूलतः धार्मिक शिक्षा को प्रायोजित करना शुरू किया। मुस्लिम शासकों ने ऐसी संस्थाओं को खुले हाथ से अनुदान दिया परंतु अधिकांशतः उन लोगों ने हिंदू शिक्षा व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया।

ब्रिटिश-पूर्व भारत में प्राथमिक शिक्षा

अट्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान उपस्थित देशज शिक्षा व्यवस्था के बारे में हमारे पास एक व्यवस्थित विवरण है। उदाहरण के लिए विलियम एडम रिपोर्ट (1835) के अनुसार इस काल खंड में, खासकर बंगाल एवं बिहार में काफी संख्या में ग्रामीण

विद्यालय पाए जाते थे। उसी तरह, थॉमस मुनरो के अनुसार 1812-1813 के दौरान मद्रास प्रेसीडेंसी में और 1820 के आसपास बंबई प्रेसीडेंसी में भी हर गांव में कम-से-कम एक विद्यालय था। इन उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत के अधिकांश भागों में ग्रामीण विद्यालयों का एक ताना-बाना था।

इन विद्यालयों को पाठशाला एवं मदरसा कहा जाता था। इनमें व्यावहारिक तथा सर्वांगीण शिक्षा दी जाती थी। इन विद्यालयों में पढ़ने, लिखने तथा अंकगणित की शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषाएं थीं। इन विद्यालयों में बालकों के नैतिक चरित्र निर्माण के पक्ष पर ज़ोर दिया जाता था। यहां तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा का भी प्रावधान था। ये संस्थाएं वस्तुतः संस्कृति की संरक्षक थीं। बालिकाओं की शिक्षा के लिए कोई विद्यालय नहीं था परंतु धनिक वर्ग अपनी युवा बेटियों को घर पर शिक्षा दिया करते थे।

उन दिनों पुस्तकें छपी हुई नहीं होती थीं और विद्यार्थी स्थानीय स्तर पर बनाए गए स्लेट और खड़िया का प्रयोग करते थे। प्रशिक्षण की अवधि तथा कार्य-दिवस स्थानीय जरूरत के अनुसार बदले जा सकते थे। कोई नियमित नामांकरण नहीं होता था। एक विद्यार्थी किसी भी समय विद्यालय में प्रवेश ले सकता था और वह अपनी इच्छानुसार विद्यालय छोड़ सकता था। ये विद्यालय शिक्षक या संरक्षक के घर पर या मंदिर या मस्जिद में संचालित होते थे। इन विद्यालयों के विद्यार्थी वंचित वर्गों सहित सभी वर्गों से आते थे, जैसा कि एडम की रिपोर्ट में जातियों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है। शिक्षकों का भुगतान वस्तु या नगद दोनों रूपों में हो सकता था। लचीलापन ऐसे विद्यालयों की विशेषता थी और ये विद्यालय विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों में सदियों तक चलते रहे। अंग्रेज़ी शासन काल में शिक्षा की इस पारंपरिक व्यवस्था को चलाना कठिन हो गया एवं धीरे-धीरे इनका विघटन हो गया।

ब्रिटिश-पूर्व भारत में उच्च शिक्षा

पारंपरिक प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा दोनों ने शास्त्रीय तथा आध्यात्मिक आयामों पर हमेशा ज़ोर दिया था। शिक्षा व्यवस्था साहित्यिक, दार्शनिक और धार्मिक आयामों से भी संबंधित थी। उच्च शिक्षा के लिए संस्कृत, पाली, तमिल, अरबी और फारसी जैसी शास्त्रीय भाषाओं का प्रयोग होता था। धर्मशास्त्र, व्याकरण, तर्कशास्त्र, कानून या विधि व्यवस्था, गणित, दर्शन शास्त्र, पारंपरिक विज्ञानों एवं साहित्य जैसे विषयों की शिक्षा दी जाती थी। सामान्यतः विद्यार्थी अपने गुरु या शिक्षक के साथ ही रह कर अध्ययन करते थे। अध्ययन-अवधि कई वर्षों की होती थी तथा प्रतिदिन विद्यार्थी कई घंटों तक कठिन अभ्यास करते थे। नवद्वीप, तिरहुत, विक्रमशिला एवं मिथिला, काशी, पुरी, तंजौर, मदुरै, कांची एवं त्रिवेंद्रम जैसे धार्मिक स्थलों में उच्च शिक्षा के बड़े केंद्र थे। उच्च शिक्षा मूलतः ऊंची जातियों तक सीमित थी। यह विद्वान पंडितों द्वारा संचालित की जाती थी, जिन्हें शासकों तथा अभिजात वर्ग द्वारा उदारता से संरक्षण दिया जाता था।

मुस्लिम उच्च शिक्षा के केंद्र जयपुर, लखनऊ, पटना तथा जौनपुर में स्थित थे। इनका मूल कार्य धर्म एवं कानून के बारे में प्रशिक्षण देना था। धर्म शास्त्र एवं कानून के साथ ही साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, छंदशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं अंकगणित में प्रशिक्षण दिया जाता था। हालांकि ये प्रशिक्षण केंद्र मूलतः मुसलमानों के लिए बनाए गए थे परंतु हिंदुओं के लिए भी इनमें प्रवेश संभव था। इन उच्च शिक्षा संस्थाओं का उद्देश्य विशेषज्ञता का प्रशिक्षण देना था।

ब्रिटिश भारत में शिक्षा

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन से भारतीय समाज में दूरगामी परिवर्तन शुरू हुए। अंग्रेज़ी शासन ने भारत में आधुनिक शिक्षा की आधारशिला रखी। आधुनिक काल के दौरान (जिसमें अंग्रेज़ी राज एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का काल दोनों शामिल हैं) शिक्षा प्राथमिक रूप से धर्मनिरपेक्ष, वैज्ञानिक, तकनीकी एवं प्रबंध कौशल से संबंधित रही है।

हैस्टिंग्स, जोंस, विल्किंस तथा विल्सन जैसे कुछ अंग्रेज़ भारत की शास्त्रीय परंपराओं के बहुत बड़े प्रशंसक थे और उनके प्रभाव में ईस्ट इंडिया कंपनी प्राच्य अध्ययन का संरक्षण करने लगी थी। इससे भारत में पारंपरिक शास्त्रीय अध्ययन को नया जीवन मिला। अंग्रेज़ प्रारंभ में भारतीय संस्कृति और शिक्षा के शास्त्रीय आयाम के प्रति आकर्षित थे। 1781 में अंग्रेज़ों ने कलकत्ता मदरसे की स्थापना की। वॉरेन हैस्टिंग्स ने, जो उन दिनों बंगाल के गवर्नर जनरल थे, भारतीय संस्कृति एवं संस्थाओं में शास्त्रीय अध्ययन को प्रोत्साहित किया। ख्याति प्राप्त मुस्लिम विद्वानों को इन मदरसों में मुस्लिम धर्मशास्त्र, कानून, गणित तथा व्याकरण पढ़ाने के लिए आकर्षित करने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। उन्होंने चार्ल्स विल्किंस जैसे विद्वानों को संस्कृत तथा फारसी में लिखे गए भारतीय शास्त्रीय ग्रंथों के प्रकाशन के लिए भी प्रोत्साहित किया। विलियम जोंस ने 1784 में 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य संस्कृत की दुर्लभ पांडुलिपियों की खोज, संपादन तथा प्रकाशन था। ब्रिटिश शासन ने प्राच्य तथा आधुनिक यूरोपियन अध्ययन की दोनों प्रकार की संस्थाओं को स्थापित किया।

अंग्रेज़ बुद्धिजीवियों का एक दूसरा समूह भी उस समय मौजूद था जो प्राच्य अध्ययन तथा भारतीय संस्कृति का समर्थन नहीं करता था। चार्ल्स ग्रांट, जेम्स मिल एवं मैकॉले के नेतृत्व में इन्होंने अंग्रेज़ी माध्यम से यूरोपियन शिक्षा को भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा की तुलना में श्रेष्ठ साबित करना शुरू किया। सन 1790 से 1835 के बीच भारतीयों और अंग्रेज़ों के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी की शिक्षा नीति के बारे में गहन विवाद बना रहा। भारतीय मध्यम वर्ग का एक समूह भी अंग्रेज़ी माध्यम का समर्थक था। राजा राममोहन राय के नेतृत्व में इस समूह ने बैंटिक तथा मैकॉले को समर्थन दिया और 1835 में नई शिक्षा नीति की घोषणा कर दी गई। इसके पहले ही 1824 से 1830 के मध्य अंग्रेज़ी की शिक्षा कोलकाता, दिल्ली तथा बनारस के प्राच्य विद्या संस्थानों में शुरू की जा चुकी थी। एक निर्णय के अनुसार सरकारी धन को प्राच्य विद्या के प्रोत्साहन के स्थान पर अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए एक बड़ी मात्रा में लगाना तय किया गया।

सन 1835 के बाद अंग्रेज़ों ने नई शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना की। कोलकाता, मुंबई, चेन्नई और दिल्ली के नए विश्वविद्यालय आधुनिक अध्ययन के केंद्रबिंदु बने। 1893 में रवींद्रनाथ टैगोर ने अंग्रेज़ी राज की शिक्षा व्यवस्था की आलोचना की और बँगला माध्यम से शिक्षा देने की वकालत की। 'दि बंगाल नेशनल कॉलेज' की स्थापना सन 1906 में की गई।

इसी दौरान कुछ प्रमुख भारतीयों ने दो प्रकार की शिक्षण संस्थानों की स्थापना की – (क) अंग्रेज़ी राज के दौरान अपनी शैक्षणिक आकांक्षाओं के अनुरूप पारंपरिक संस्थाएं (जैसे देवबंद एवं लखनऊ शिक्षणालय, गुरुकुल कांगड़ी, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ तथा जामिया मिल्लिया इस्लामिया) तथा (ख) आधुनिक संस्थाएं जैसे अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, विश्व भारती, शांति निकेतन इत्यादि।

अंग्रेज़ी राज के दौरान भारतीय शिक्षा की मुख्य धारा धीरे-धीरे अंग्रेज़ों और उभरते हुए मध्यम वर्ग के हितों को ध्यान में रखते हुए बदली गई। आरंभ में इस शिक्षा के कारण भारतीय समाज में पश्चिमीकरण को प्रोत्साहन मिला परंतु बाद में आधुनिक राष्ट्रीय विचारों एवं गतिविधियों के प्रसार में भी इससे मदद मिली। इस दौरान विभिन्न सामाजिक-धार्मिक सुधारवादी प्रयास हुए जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, अलीगढ़ एवं अहमदिया आंदोलन इत्यादि।

इस प्रकार, अंग्रेज़ी राज के दौरान शिक्षा एक जटिल व्यवस्था थी। इसके अंतर्गत कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार की अंतर्विरोधी वैचारिक धाराओं तथा संस्कृतियों को प्रतिनिधित्व मिला। एक ओर इसने पारंपरिक भारत की आर्थिक संस्थाओं और सामाजिक समरसता के संतुलन को कमज़ोर किया एवं दूसरी ओर आधुनिक भारत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वतंत्रता-पूर्व भारत में शिक्षा के बारे में वैचारिक रूप से तीन संप्रदाय दृष्टिगोचर होते हैं :

1. राष्ट्रवादी तथा पुनरुत्थानवादी संप्रदाय जो प्राचीन भारतीय विरासत का कट्टर समर्थक था एवं इस विरासत से अलग या विदेशी मूल की शिक्षा-संस्कृति का तिरस्कार करता था।
2. दूसरा वैचारिक संप्रदाय विदेशी मूल के आधुनिक अध्ययन का विरोधी तो नहीं था परंतु वह आधुनिक शिक्षा के स्वदेशीकरण का पक्षधर था। उनका मूल उद्देश्य शिक्षा को राष्ट्रीयता का वाहक एवं भारतीय परिस्थितियों की दृष्टि से प्रासंगिक बनाना था। बनारस विश्वविद्यालय तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय जैसी संस्थाएं इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती थीं।
3. अंग्रेज़ों द्वारा समर्थित एक तीसरा वैचारिक संप्रदाय भी था जो ब्रिटिश प्रारूप के आधार पर शिक्षा संस्थानों के विस्तार के लिए कृत-संकल्प था। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व कोलकाता, मुंबई, चेन्नई एवं दिल्ली के विश्वविद्यालय करते थे। अंग्रेज़ी शिक्षा मूलत: सरकारी नौकरी पाने में सहायक थी। इसने जनशिक्षा को तो प्रोत्साहित नहीं किया, परंतु विशिष्ट क्लबों में शामिल होने में भारतीय मध्यमवर्ग की मदद की।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा

महात्मा गांधी अंग्रेज़ी शिक्षा में अंतर्निहित अभिजात्यवाद एवं भारतीय संदर्भ में इसकी अप्रासंगिकता को नापसंद करते थे। उनका मानना था कि अंग्रेज़ी शिक्षा बच्चों के सर्वांगीण विकास में बाधक है तथा यह भारत में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे कुछ लोगों और इस शिक्षा से वंचित बहुसंख्यक लोगों की संस्कृति में दूरी पैदा करती है। वह अपने ही देश में शिक्षित लोगों को अजनबी बनाती है। अत: गांधी जी इस शिक्षा को 'बौद्धिक शगल' कह कर इसकी आलोचना करते थे।

गांधी जी ने स्वतंत्र भारत के लिए 'बुनियादी शिक्षा' या 'नई तालीम' के नाम से शिक्षा का एक नया प्रारूप तैयार किया। इसमें ज्ञान प्राप्ति के व्यावहारिक तरीकों पर ज़्यादा ज़ोर था। नई तालीम के द्वारा गांधी जी हर गांव, समुदाय तथा संपूर्ण देश को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। नई तालीम के द्वारा वे सामाजिक एवं आर्थिक रूप से सृजनकारी कौशलों जैसे सूत कातना, कपड़ा बुनना, बढ़ईगिरी, कुंभकारी तथा पशुपालन आदि का प्रशिक्षण विद्यार्थियों को देने के पक्ष में थे।

गांधी जी हस्तशिल्प को विद्यार्थियों के विचारों को व्यवहार से जोड़ने का एक साधन मानते थे, जिससे उनमें अध्ययन के प्रति जिज्ञासा और उत्साह जाग्रत किया जा सकता था। सात वर्षों तक नि:शुल्क

एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान, प्रशिक्षण का माध्यम मातृ-भाषा, शिक्षा का किसी शारीरिक एवं उत्पादक कार्य से जुड़ा होना तथा शिक्षा व्यवस्था का स्वावलंबी होना उनकी शिक्षा व्यवस्था के मुख्य उद्देश्य थे। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि गांधी जी की योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी।

टैगोर भी उपनिवेशवादी शिक्षा के आलोचक थे। इसके विदेशी चरित्र, दैनिक जीवन की लय से दूरी एवं प्रशिक्षण के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी भाषा का उपयोग उन्हें स्वीकार्य नहीं था। इसके विपरीत वे विद्यार्थी केंद्रित सर्वांगीण शिक्षा का प्राचीन गुरुकुलों वाले प्रतिमान का ही समर्थन करते थे।

गांधी एवं टैगोर की तुलना में, भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित नेहरू आधुनिक शिक्षा के पक्षधर थे। वे आधुनिक भारत में शिक्षा को औद्योगिक, तकनीकी, वैज्ञानिक तथा प्रजातांत्रिक विकास का शक्तिशाली वाहक बनाना चाहते थे। उन्होंने इस दृष्टि से शिक्षा को नियोजित करने के लिए 'राधाकृष्णन कमीशन' की स्थापना की। इस कमीशन (1948) का केंद्रीय लक्ष्य शिक्षा के द्वारा भारतीय संविधान के मूल उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपाय एवं साधन प्रस्तावित करना था। इस कमीशन ने विकास के दार्शनिक, वैधानिक एवं तकनीकी आयामों की प्रस्तावना की। संविधान में अंतर्निहित मूल्यों की प्राप्ति के लिए इस कमीशन ने विज्ञान और तकनीक के अध्ययन पर विशेष बल दिया। ग्रामीण पुनर्निर्माण में मदद देने के लिए इसने ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की प्रस्तावना की। इस कमीशन ने उच्च शिक्षा पर अधिक बल दिया।

सरकार ने डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक दूसरे कमीशन की स्थापना की। इसे 'कोठारी कमीशन' (1964-66) के नाम से जाना जाता है। यह शिक्षा के सभी स्तरों से संबंधित है तथा राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से इसने विभिन्न स्तरों पर शिक्षा *की भूमिका का परीक्षण किया। आधुनिक भारत में* उत्पादकता, आत्मनिर्भरता, आर्थिक विकास तथा रोज़गार के अवसर बढ़ाने के लिए यह वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता को रेखांकित करता है। कोठारी कमीशन ने प्रस्ताव रखा कि :

1. विज्ञान इस रूप में पढ़ाया जाना चाहिए कि विद्यार्थी इसके बुनियादी सिद्धांतों को समझ सके।
2. समस्या-समाधान की विश्लेषण क्षमता का विकास हो तथा भौतिक वातावरण एवं सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए वैज्ञानिक सिद्धांतों का उपयोग हो सके।
3. यह अन्वेषण और प्रयोगात्मकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करे।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) इस बात पर ज़ोर देती है कि तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा देना आवश्यक है ताकि उद्योग एवं अर्थव्यवस्था को विकसित किया जा सके। इसने कंप्यूटर शिक्षा के महत्त्व की चर्चा की। इस प्रकार स्वतंत्र भारत में शिक्षा प्राथमिक रूप से विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की ओर उन्मुख है। समकालीन भारत में शिक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष भारतीय संस्कृति का संरक्षण, संवर्धन तथा प्रचार-प्रसार रहा है। भारतीय शिक्षा ने ऐसी मनोवृत्ति के विकास की कोशिश की है जो पश्चिमी आधुनिकता एवं भारतीय सांस्कृतिक परंपरा दोनों के प्रति ग्रहणशील हो। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने इस बात पर बल दिया कि देश की सांस्कृतिक परंपरा एवं आधुनिक तकनीकों द्वारा परिवर्तन को दर्शाने वाली प्रवृत्तियों के बीच समन्वय शिक्षा के द्वारा संभव है।

हाल में जारी दस्तावेज़, 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2000' ने उपरोक्त राष्ट्रीय आदर्शों को पुनर्स्थापित किया है। इसने देशी ज्ञान के महत्त्व को रेखांकित किया है और

हमारी सांस्कृतिक विरासत में रचे-बसे देशज पाठ्यक्रम को विकसित करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है।

प्राथमिक शिक्षा

भारतीय संविधान के 83वें संशोधन (1997) के अनुसार प्राथमिक शिक्षा भारत के सभी नागरिकों (14 वर्ष की उम्र तक) का एक मौलिक अधिकार है।

वर्तमान में, भारत अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 3.6 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करता है जो कई देशों के औसत से काफी कम है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा संस्थानों, प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई है। देश में 1950-51 की तुलना में विद्यालयों की संख्या में सन 1998-99 तक 2,31,000 से 9,30,000 यानी करीब चार गुना वृद्धि हो चुकी है। प्राथमिक स्तर पर देश की ग्रामीण जनसंख्या के 94 प्रतिशत लोगों को एक किलोमीटर की दूरी के अंदर विद्यालय उपलब्ध हैं। परंतु इन विद्यालयों में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के अधिकांश बच्चों द्वारा समय से पहले ही विद्यालय छोड़ देने की बढ़ी हुई दर अभी भी चिंताजनक विषय है।

शिक्षा में अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा महिलाओं की भागीदारी काफी बढ़ी है, परंतु देश के करीब 40 प्रतिशत ज़िलों में स्त्रियों की साक्षरता 30 प्रतिशत से भी कम है। करीब-करीब हर चार ज़िलों में से एक ज़िले में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की स्त्रियों की साक्षरता 10 प्रतिशत से भी कम है। विद्यालय जाने वाले बच्चों में से एक तिहाई से ज़्यादा 8 वर्ष की प्राथमिक शिक्षा पूरी करने से पहले ही विद्यालय को छोड़ देते हैं। जो लोग विद्यालय की शिक्षा पूरी करते हैं उसमें से करीब आधे लोग अपेक्षित शैक्षणिक मानक हासिल नहीं कर पाते। कई विद्यार्थी नियमित रूप से विद्यालय नहीं जाते। इस प्रकार सरकार के संकल्पों एवं पिछले कुछ दशकों के प्रयासों के बावजूद, हम लोग सार्वभौमिक साक्षरता के लक्ष्य से अभी काफी दूर हैं।

भारतीय संविधान के 45वें अनुच्छेद के अनुसार राज्य 14 वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा। अनुच्छेद 30 घोषणा करता है कि सभी अल्पसंख्यकों को चाहे वे धर्म के आधार पर हों या भाषा के, अपनी पंसद के शिक्षा संस्थानों की स्थापना या प्रबंधन करने का अधिकार है। अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य वंचित समूहों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विशेष शैक्षणिक एवं आर्थिक हितों का संवर्धन करेगा और सामाजिक अन्याय एवं हर प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा। देश की साक्षरता दर सन 1951 के 18.33 प्रतिशत से बढ़कर 2001 में 65.38 प्रतिशत हो गई है।

भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों का आग्रह है कि 'अपनी आर्थिक क्षमता की सीमा के अंतर्गत' राज्य शिक्षा के अधिकार की प्राप्ति के लिए प्रभावी कदम उठाएगा। परिणामस्वरूप सरकारी विद्यालयों एवं स्थानीय निकायों द्वारा संचालित विद्यालयों में देश के हर भाग में मुफ्त प्राथमिक शिक्षा दी जाती है।

1976 के पहले शिक्षा का दायित्व पूर्णरूप से प्रादेशिक राज्यों का था। सन 1976 के बाद शिक्षा केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों का संयुक्त कर्तव्य बन गई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 तथा प्रोग्राम ऑफ एक्शन (पी. ओ. ए.) 1992 के अनुसार 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को उच्च गुणवत्ता वाली शिक्षा मुफ्त दिए जाने का प्रावधान है।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा तथा सामाजिक असमानता

भारत में शिक्षण संस्थाएं काफी स्तरीकृत हैं। राज्यों के अनुदान से चलने वाले विद्यालय आम आदमी की

आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जबकि अभिजात गैर-सरकारी विद्यालय उच्च तथा उच्च मध्यम वर्गों की ज़रूरत पूरी करते हैं। सरकार विद्यालयों की शिक्षा पर कम पैसा खर्च करती है जबकि उच्च शिक्षा पर ज़्यादा। अभिजात गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्र उच्च शिक्षण संस्थानों के अधिकांश स्थानों को प्राप्त कर लेते हैं। फलस्वरूप भारतीय अभिजात वर्ग ने उच्च शिक्षा के बारे में सरकारी नीतियों को प्रभावित करते हुए अपना हित विकसित किया है।

सरकार पर्याप्त रूप से उच्च शिक्षा का व्यवसायीकरण करने में असफल रही है। तकनीकी शिक्षा के उदारीकरण की असफलता एवं उदासीनता और ज़्यादा व्यावसायिक संस्थानों को खोलने की क्रिया, पारितोषिकों की व्यवस्था रोज़गार के अवसरों से जुड़ी हुई है। आज भी पारितोषिकों की व्यवस्था एवं रोज़गार के अवसर मौलिक रूप से औपचारिक किताबी ज्ञान पर ही आधारित हैं न कि व्यावहारिक कौशल, स्थानीय ज्ञान और हस्तशिल्प पर।

भारत में विद्यालयों को तीन स्रोतों से अनुदान मिलता है :

(क) सरकारी विभागों

(ख) नगरपालिका एवं अन्य स्थानीय संस्थाओं से और

(ग) निजी उपक्रमों से।

सरकार देश के विद्यालयों के करीब पांचवें हिस्से को संरक्षण देती है, स्थानीय संस्थाएं आधे से कुछ कम विद्यालयों को संरक्षण देती हैं जबकि गैर-सरकारी संस्थाओं से हर स्तर के करीब एक तिहाई विद्यालयों को संरक्षण मिलता है। यद्यपि करीब 90 प्रतिशत गैर-सरकारी विद्यालयों को सरकारी अनुदान मिलता है और उन्हें शिक्षकों की नियुक्ति, शुल्क की संरचना, शिक्षा के घंटे तथा अतिरिक्त सह-पाठ्यक्रम आदि के बारे में सरकारी नियंत्रण मानना पड़ता है।

गैर-सरकारी संस्थाओं की शिक्षण क्षेत्र में भागीदारी से भाँति-भाँति के अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूल, अभिजात सार्वजनिक विद्यालय, ऐंग्लो-इंडियन विद्यालय (मिशन तथा कान्वेंट विद्यालय) एवं बड़े न्यासों तथा स्थानीय धनाढ्यों द्वारा चलाए जाने वाले विद्यालय सामने आए हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 हर वर्ग, जाति, मत तथा लिंग के व्यक्तियों के लिए शिक्षा सुलभ करवाती है। यह 10+2+3 रूपी एक समान शैक्षिक संरचना तथा देश में एक ही मूल पाठ्यक्रम को प्रस्तावित करती हैं। महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, विकलांगों और कुछ अल्पसंख्यक समूहों की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबंध करते हुए यह शिक्षा में असमानता को दूर करने के लिए प्रयत्नशील है।

यह नीति सरकार द्वारा अशिक्षा दूर करने के प्रयत्नों को प्रोत्साहन देती है। इसमें 15-35 आयु समूह पर विशेष बल दिया गया है। यह दस्तावेज़ वयस्क शिक्षा को विकास के राष्ट्रीय लक्ष्यों से जोड़ने की जरूरत को भी रेखांकित करता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में सन 1986 के बाद निम्नलिखित मुद्दों पर बल दिया गया:

- ❑ 14 वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों का गुणवत्ता वाली शिक्षा के लिए नामांकन।
- ❑ 14 वर्ष की उम्र तक सभी बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा।
- ❑ उत्कृष्ट शिक्षा प्रदान करना, इसके लिए नवोदय विद्यालय के नाम से देश के विभिन्न भागों में विशिष्ट विद्यालयों की स्थापना।
- ❑ व्यावसायिक शिक्षा के रूप में एक विशिष्ट धारा विकसित करना जो विद्यार्थियों को चुने हुए व्यवसायों एवं कई प्रकार की गतिविधियें में दक्षता प्रदान करेगा।

- स्वशासी महाविद्यालयों (निजी) एवं विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र विभागों की चयनगत आधार पर स्थापना।
- अनौपचारिक एवं शिक्षा के लचीले रूपों को प्रोत्साहन देने के लिए इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय एवं राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय की स्थापना।
- उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के युग में रोज़गारों को डिग्री से संबद्ध करने का प्रयास।
- 15 वर्ष से 35 वर्ष की आयु समूह में पूर्ण साक्षरता प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय साक्षरता अभियान चलाया जाना। देश में निरक्षरता दूर करने के लिए सर्वप्रमुख रणनीति पूर्ण साक्षरता अभियान है।
- उपलब्ध संचार तकनीकों को विद्यालय शिक्षा के हर स्तर तथा हर क्षेत्र में उपयोग करने की कोशिश की गई है। इसका परिणाम मिश्रित रहा है।
- माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों को उत्कृष्ट व्यावसायिक योग्यताएं देने के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण की उत्कृष्ट व्यवस्था की गई है।
- सर्वशिक्षा अभियान के तहत सन 2010 तक 6 वर्ष से 14 वर्ष के आयु समूह के सभी बच्चों को उपयोगी एवं प्रासंगिक शिक्षा देने की कोशिश की जा रही है। सन 2007 से 2010 तक सभी बच्चों को क्रमशः 5 और 8 वर्षों की प्रारंभिक स्कूली शिक्षा पूर्ण करवाने की अपेक्षा है।

समकालीन भारत में शिक्षा आधुनिकीकरण, सामाजिक परिवर्तन तथा राष्ट्रीय विकास का स्रोत है। आर्थिक दृष्टिकोण से शिक्षा युवा लोगों में व्यावसायिक योग्यता के विकास में सहायक सिद्ध हुई है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से समकालीन शिक्षा नगरीय, औद्योगिक, पंथनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक उपभोक्ता समाज के मूल्यों के विकास में उपयोगी है। यह पारंपरिक मूल्यों, विश्वासों, प्रथाओं एवं परंपराओं में हो रहे परिवर्तन का एक कारक है। इस तरह जहां एक ओर शिक्षा ने आधुनिक भारत के निर्माण में योगदान दिया है, वहीं दूसरी ओर अभिजात वर्ग की निरंतरता एवं भारतीय समाज में व्याप्त असमानता तथा संपन्न वर्ग के जनसाधारण से अलगाव में भी यह एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

परिणामस्वरूप हमारी शिक्षा व्यवस्था एक ओर ऐसे साक्षर डिग्री धारकों का निर्माण करती है जिनके पास पर्याप्त तकनीकी योग्यता और उत्पादन शक्ति का अभाव है, दूसरी ओर यह व्यावसायिक योग्यता वाले, तकनीकी एवं प्रबंधकों के छोटे समूह का निर्माण करती है जिन्होंने अपने चुने हुए विशेष क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय मानकों की उपलब्धि प्राप्त की है, परंतु जिनकी राष्ट्र या आम आदमी की भलाई में ज़्यादा रुचि नहीं है।

शब्दावली

शिक्षा – किसी बच्चे के सर्वांगीण विकास के लिए बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक एवं सामाजिक प्रशिक्षण की औपचारिक प्रक्रिया।

गुरुकुल – पारंपरिक संपूर्ण शिक्षा का हिंदू केंद्र।

मदरसा/मकतब– इस्लामिक शिक्षा के केंद्र।

अभ्यास

1. अंग्रेज़ी राज से पूर्व भारत में शिक्षा के प्रतिमान पर एक निबंध लिखिए।
2. अंग्रेज़ी राज के दौरान शिक्षा व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
3. स्वतंत्र भारत में शिक्षा व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं क्या थीं ?
4. भारत में प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।
5. स्वतंत्र भारत की शिक्षा व्यवस्था की समस्याएं क्या हैं ?
6. भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 की मूल विशेषताएं क्या हैं ?

संदर्भ-ग्रंथ

- बेतेई, आंद्रे, (सं.), ***इक्वेलिटी एंड इनइक्वेलिटी,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1984
- घोष, सुरेशचंद्र, ***द हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन मॉडर्न इंडिया (1757-1986),*** ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1995
- हक, एहसानुल, ***स्कूल, फैमिली एंड मीडिया,*** रावत प्रकाशन, जयपुर, 1995
- कुमार, कृष्ण, ***पोलिटिकल एजेंडा ऑफ एजुकेशन,*** सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1991
- पाठक, अभिजीत, ***सोशल इंपलिकेशंस ऑफ स्कूलिंग,*** रेनबो पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2002
- शुक्ला, सुरेशचंद्र एवं कौल, रेखा, (सं.) ***एजुकेशन, डेवलपमेंट एंड अंडरडेवलपमेंट,*** सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1998

अध्याय 8

भारत की संस्कृति

भूमिका

संस्कृति मानव के विचारों एवं व्यवहारों के प्रतिमान को इंगित करती है। इसके अंतर्गत मूल्य, विश्वास, आचार संहिता, राजनीतिक प्रतिमान तथा आर्थिक संगठन भी शामिल हैं। संस्कृति के ये तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रक्रियाओं द्वारा हस्तांतरित किए जाते हैं।

संस्कृति समाज के सदस्य के रूप में हमारे विचार और कार्य (चिंतन एवं व्यवहार) के तरीकों का समुच्चय है। फलस्वरूप सामूहिक जीवन की समस्त उपलब्धियों को सम्मिलित रूप से संस्कृति कहा जाता है। लोकप्रिय दृष्टि से, संस्कृति के भौतिक पक्ष जैसे वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों को सभ्यता कहा जाता है एवं समूह की अभौतिक उच्च उपलब्धियों को (जिसमें कला, संगीत, साहित्य, दर्शन, धर्म एवं विज्ञान शामिल हैं) विशिष्ट संस्कृति कहा जाता है।

सभ्यता समाज का संगठित पक्ष है जो संस्कृति की दशाओं का निर्माण करती है। संस्कृति इसी सभ्यता रूपी संगठन की उपज है जो भाषा, कला, दर्शन, धर्म, सामाजिक आदतों, प्रथाओं, आर्थिक संगठन एवं राजनीतिक संस्थाओं में अभिव्यक्त होती है।

संस्कृति एक व्यापक शब्द है जिसमें अग्रलिखित बातें सम्मिलित हैं :

1. व्यवहार के प्रतिमान एवं तरीके।
2. उत्पादन की तकनीक एवं प्रौद्योगिकी, सामाजिक संगठन, कला, विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं अन्य सेवाओं के प्रोत्साहन के लिए बनी संस्थाएं।
3. बुनियादी मुद्राएं, मूल्य, विश्वास, विश्वदृष्टियां आदि जिनकी अभिव्यक्ति कला, संगीत, साहित्य, दर्शन एवं धर्म में होती है।

संस्कृति के दो प्रकार होते हैं भौतिक एवं अभौतिक। भौतिक संस्कृति के अंतर्गत तकनीक, उपकरण, भौतिक वस्तुओं, उपभोक्ता वस्तुओं, गृह सज्जा एवं भवन निर्माण कलाओं, उत्पादन विधियों, व्यापार, वाणिज्य, युद्ध कला एवं अन्य सामाजिक गतिविधियों को शामिल किया जाता है। अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानदंडों, मूल्यों, विश्वासों, मिथकों, अनुष्ठानों, साहित्य, धर्मविधियों, कला के विभिन्न रूपों एवं अन्य बौद्धिक-साहित्यिक गतिविधियों को सम्मिलित किया जाता है। संस्कृति के दोनों पहलू सामान्यतः एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। परंतु कभी-कभी भौतिक संस्कृति में जल्दी परिवर्तन हो जाता है जबकि अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन काफी धीमी गति से होता है।

भारतीय विद्वानों के अनुसार भारतीय संस्कृति का मूल आधार केवल पारंपरिक सामाजिक संहिता में ही नहीं अपितु जीवन के आध्यात्मिक आधार में भी

है। विस्तृत रूप से हम भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा कर सकते हैं : (क) शास्त्रीय, अभिजात या मार्गी; (ख) लोक या देशी एवं (ग) जनजातीय। प्राथमिक रूप से यह केवल अवधारणात्मक वर्गीकरण है। उपर्युक्त में से कोई भी सांस्कृतिक तत्त्व अपने शुद्ध रूप में भारतीय समाज में देखने को नहीं मिलता है। लोक एवं शास्त्रीय तत्त्व सामान्यत: एक-दूसरे के काफी समान हैं तथा ये अक्सर एक-दूसरे के पूरक होते हैं। इसी तरह जनजातीय एवं लोक तत्त्व काफी समान होते हैं और कभी-कभी तो यह कहना मुश्किल हो जाता है कि किस बिंदु पर एक समाप्त होता है और दूसरा प्रारंभ होता है। उपर्युक्त वर्गीकरण केवल कामचलाऊ अवधारणात्मक उपकरण उपलब्ध कराता है जिसके सहारे भारतीय संस्कृति के आदर्श प्रारूप एवं मूल विशेषताओं का वर्णन एवं विश्लेषण किया जा सके। यह भारतीय समाज में पाए जाने वाले वस्तुगत अनुभवाश्रित सांस्कृतिक वर्गीकरण का चित्रण नहीं है। इस देश के प्रत्येक क्षेत्र में तथा विभिन्न ऐतिहासिक कालों में असंख्य सांस्कृतिक विविधताएं रही हैं।

शास्त्रीय/अभिजात/मार्गी परंपरा

भारतीय संस्कृति की शास्त्रीय परंपरा के दायरे में विभिन्न विषयों, भाषाओं और कलाओं को शामिल किया जाता है, उदाहरणस्वरूप, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्योतिष विज्ञान, दर्शनशास्त्र, संगीत, नाट्यशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, वास्तु एवं शिल्प आदि।

इस परंपरा को कई नामों से पुकारा जाता है जैसे शास्त्रीय, मार्गी और अभिजात। इस परंपरा का लंबे समय में प्रादुर्भाव हुआ है परंतु कुल मिलाकर इसकी निरंतरता बनी रही है। शास्त्रीय संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषता इसकी अभिव्यक्ति में उच्च श्रेणी की निपुणता एवं उत्कृष्ट कौशल-विन्यास का विकास है। शास्त्रीय संस्कृति के किसी आयाम में निपुणता के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण एवं लंबे समय तक निरंतर अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसे साधना या रियाज़ कहते हैं। यह ज्ञान की विभिन्न शाखाओं तथा हर प्रकार की कला के लिए आवश्यक होता है।

भारतीय संस्कृति के शास्त्रीय तत्त्वों के विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय रचनात्मकता देखने को मिलती है। इसमें लोक एवं जनजातीय परंपराओं के तत्त्वों को शास्त्रीय संस्कृति में समाहित करने की अलौकिक क्षमता भी शामिल है। इस प्रक्रिया के समुचित विकास में भारतीय संस्कृति में पाई जाने वाली ऊंचे स्तर की सहिष्णुता से भी सहायता मिलती रही है। भारतीय संस्कृति ने एक ओर आदर्श व्यवहार के लिए कुछ मानक तय किए हैं, परंतु विश्वास के मामले में काफी स्वतंत्रता भी दी है। उदाहरण के लिए अलग-अलग प्रकार के धार्मिक विश्वासों एवं अनुष्ठानों को सहज एकता के सूत्र में पिरोया गया है जो कि उपर्युक्त कारणों से ही संभव हो पाया है। भारतीय संस्कृति में शास्त्रीय परंपरा की निरंतरता का यही सबसे बड़ा कारण है।

लोक या देशी परंपरा

भारतीय जनसंख्या के अधिकांश लोग लोक परंपरा के वाहक रहे हैं। यह परंपरा सामान्यतया मौखिक रही है और प्रत्यक्ष रूप से पुस्तकों पर निर्भर नहीं रही है।

लोक संस्कृति तथा जनजातीय संस्कृति के बहुत से तत्त्व समान हैं। परंतु इनके बीच कुछ महत्त्वपूर्ण अंतर भी पाया जाता है। किसी जनजाति की सांस्कृतिक परंपरा अपने आप में स्वावलंबी एवं समग्र होती है, जबकि लोक परंपरा हमेशा ही शास्त्रीय परंपरा की पूरक रही है। भारत में शास्त्रीय से लोक एवं लोक से शास्त्रीय के बीच चक्रीय आदान-प्रदान होता रहा है और दोनों परंपराओं ने

एक–दूसरे से कई तत्त्व ग्रहण किए हैं। उदाहरण के लिए कई लोक धुनों को कुछ परिष्कार के बाद शास्त्रीय रागों में सम्मिलित कर लिया गया है।

लोक संस्कृति में भाषाओं, बोलियों, अभिव्यक्तियों एवं प्रकारों की दृष्टि में काफी विविधता है परंतु विचारों, विषय एवं मूल्यों के मामले में मौलिक एकता है। यद्यपि बाह्य अभिव्यक्तियों में विविधता है परंतु संस्कृति के अधिकांश आयामों के बुनियादी ढांचे एवं संस्कृति की आत्मा में मौलिक एकता है। उदाहरण के लिए हर गांव के अलग–अलग खास देवता होते हैं, परंतु विश्वास एवं अनुष्ठान की दृष्टि से करीब–करीब पूरे देश में समानता है। उदाहरण के लिए, नाग देवता एवं शीतला माता की पूजा भारत के लगभग हर गांव में होती है, परंतु उनके स्थानीय नाम अलग–अलग हो सकते हैं।

लोक साहित्य, लोक गीत, महाकाव्य, कहानियां, कहावतें, पहेलियां एवं जादू के सूत्रों की लोकप्रियता कई भाषाई क्षेत्रों की हदों को पार करती हैं। उनमें भाषाई भिन्नता है, लेकिन भाव प्राय: समान होते हैं। इसी प्रकार, महाकाव्यों के लोक संस्करणों के कथानकों के प्रतिमान में विभिन्न क्षेत्रों के बीच भी सामान्यत: समानता होती हैं। क्षेत्रीय विविधता न केवल लोक संस्कृति में अपितु शास्त्रीय संस्कृति में भी देखने को मिलती हैं। इस प्रकार लोक संस्कृति का भी एक व्यापक सार्वभौमिक पहलू है। यह न तो छोटे स्थान पर सीमित है और न ही यह संकीर्ण प्रकृति की है। लोक संस्कृति छोटे या पृथक समुदायों को भी नहीं बनाती है। लोक संस्कृति भी सभ्यता का एक अंग है। हालांकि गांव के ज़्यादातर लोग लोक परंपरा के वाहक होते हैं, परंतु लोक संस्कृति केवल गांवों तक सीमित नहीं है। शहरों में भी सामान्यत: लोग लोक परंपरा के वाहक होते हैं। इस प्रकार, लोक परंपरा की हदें काफी विस्तृत होती है।

सामान्यत: लोक एवं शास्त्रीय सांस्कृतिक परंपराओं के वाहक एक–दूसरे के समीप रहते हैं, और तो और एक परिवार में भी रहते हैं। कभी–कभी तो एक ही व्यक्ति दोनों परंपराओं का वाहक होता है। दोनों परंपराएं एक ही विश्व दृष्टि को समान रूप से स्वीकारती हैं, समान मौलिक मूल्यों पर आधारित होती हैं तथा समान तात्त्विक विचारों को ग्रहण करती हैं। दोनों परंपराओं के बीच प्रमुख अंतर इनके परिष्कार, व्यवस्थितिकरण, विशेषज्ञता, प्रशिक्षण तथा साधना के अंशों में अंतर्निहित होता है।

लोक कलाओं, दस्तकारी एवं लोक संस्कृति की तकनीकों को प्राय: जीवन की सामान्य चर्चा के रूप में दैनिक कार्यों में भागीदारी करते हुए सीखा जाता है। इसके विपरीत, शास्त्रीय परंपराओं को एक विशिष्ट प्रशिक्षण के द्वारा किसी ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ की व्यावसायिक निगरानी में सिखाया जाता है। इसका यह आशय नहीं है कि लोक विचार या कलात्मक अभिव्यक्तियां अपरिपक्व होती हैं। लोक गीतों एवं लोक नृत्यों का एक पारंपरिक प्रतिमान होता है, जिसका प्रादुर्भाव लंबे काल से देखा, समझा या व्यवस्थित तरीके से संजोया नहीं जाता।

जनजातीय सांस्कृतिक परंपराएं

जनजातीय संस्कृतियां तुलनात्मक रूप से अलग–अलग एवं स्वायत्त होती हैं। एक जनजातीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों से कुछ तत्त्व उधार ले सकती हैं, परंतु यह लेन–देन आकस्मिक या कभी–कभी होता है। इसलिए, जनजातीय संस्कृतियां लोक एवं शास्त्रीय संस्कृतियों से गुणात्मक रूप से भिन्न होती हैं। कभी–कभी एक जनजातीय संस्कृति शास्त्रीय या लोक संस्कृति के इतने करीब आ जाती है कि उस पर निर्भर हो जाती है। यह लोक परंपरा विशिष्ट परिस्थितियों में शास्त्रीय परंपराओं का एक भाग बनती है।

जनजातीय संस्कृतियों की चार विशेषताएं होती हैं – छोटा आकार, सजातीयता, विशिष्टता एवं आत्मनिर्भरता। जनजातीय संस्कृतियों की बहुत सी विशेषताएं लघु समुदायों वाली होती हैं। एक समुदाय की विशेषता समान भू-भाग तथा साझा मनोभाव होते हैं।

भारत में अनेक जनजातीय संस्कृतियां हैं। देश के विस्तृत भू-भाग में चारों ओर जनजातियां बिखरी हुई हैं। इनके बीच आम तौर से सांस्कृतिक आदान-प्रदान नहीं होता है। विभिन्न जनजातियों के बीच आर्थिक, तकनीकी, संस्थागत एवं धार्मिक प्रतिमानों में विविधता है। विशिष्ट ज्ञान या कला सामान्य रूप से जनजातियों में नहीं पाई जाती है।

एक लंबे अर्से से भारत में शास्त्रीय, लोक एवं जनजातीय सांस्कृतिक धाराओं का सह-अस्तित्व रहा है। ऐतिहासिक रूप से, भारतीय संस्कृति की इन तीनों सांस्कृतिक धाराओं का मौलिक बुनियादी हितों में आम तौर से शायद ही टकराव रहा हो। जनजातीय संस्कृति मुख्य धारा के विश्वासों या मूल्यों को माने या न माने परंतु जनजातीय और गैर-जनजातीय संस्कृतियों के बीच भारत में संघर्ष नहीं रहा है।

भारत में धर्म एवं संस्कृति

भारतीय संस्कृति विविधता के प्रति काफी सहिष्णु रही है। भारत के प्रमुख धार्मिक समूहों के बीच शास्त्रीय, लोक एवं जनजातीय संस्कृति की धाराएं विद्‌यमान रही हैं। ए. के. कुमारस्वामी ने दावा किया है कि भारत की सभी धार्मिक परंपराओं में शास्त्रीय एवं लोक के बीच अंत:क्रिया के प्रतिमान करीब-करीब एक समान रहे हैं।

भारत में हिंदू, बौद्‌ध एवं जैन परंपराएं एक-दूसरे की पूरक रही हैं। न केवल शासक बल्कि आम जनता ने भी बिना स्वतंत्रता की भावना का त्याग किए धार्मिक विविधता का समायोजन किया है। राजनीतिक विचलन के बावजूद समायोजन की भावना आज भी भारत में व्याप्त है। समायोजन एवं सहिष्णुता की यह भावना पवित्र नदियों, धर्म स्थानों एवं दूर-दराज़ स्थित मठों में एकत्रित हुए लोगों के बीच देखी जा सकती है। भारत ने न सिर्फ विभिन्न धर्मों को पनाह दी बल्कि इन धर्मों के बीच पाए जाने वाले विभिन्न पंथों को भी रखा है। हिंदू, बौद्‌ध, जैन, सिक्ख, मुस्लिम, ईसाई, पारसी एवं यहूदी समुदाय के लोग अपने विभिन्न संप्रदायों के साथ यहां शांतिपूर्वक रहते आए हैं। विभिन्न संप्रदायों ने एक साझी विरासत को स्वीकारते हुए भी अपनी अलग-अलग विचार दृष्टियों को अभिव्यक्त किया है। इसके परिणाम स्वरूप भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के सुधार प्रतिमानों का जन्म हुआ है। इन्होंने एक व्यावहारिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए मूल ग्रंथों के अर्थों की रचनात्मक व्याख्या की है।

मध्यकाल में अकबर ने सामुदायिक सहिष्णुता एवं साझी सांस्कृतिक समझ विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। शिवाजी के अंगरक्षक एवं कुछ सेनापति मुस्लिम मत मानने वाले थे। मुहम्मद गौरी ने हिंदू देवी लक्ष्मी की प्रतिमा वाला सोने का सिक्का चलाया था। दाराशिकोह भारतीय दर्शन एवं साहित्य के प्रसार का महान समर्थक था।

आनंद कुमारस्वामी ने रेखांकित किया है कि कला के क्षेत्र में, विभिन्न मंदिरों, स्मारकों एवं राजदरबारों के भवन-निर्माण एवं स्थापत्य कलाओं में उल्लेखनीय समानताएं दिखाई देती हैं। भारतीय कला एक प्रतीकात्मक प्रारूप है जो पवित्र विषयवस्तुओं एवं विस्तृत आदर्शों पर केंद्रित है। कुमारस्वामी के अनुसार भारत में हिंदू, मुस्लिम एवं ईसाई परंपराओं में कला समान धार्मिक स्रोतों एवं समान आध्यात्मिक अर्थों में समाहित है।

विभिन्न समुदायों के बीच भाषा एवं साहित्य में, कला एवं भवन निर्माण कला में, संगीत एवं चित्रकला

में, नृत्य एवं नाट्य कला में, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में, सामाजिक आदतों एवं प्रथाओं में सह-अस्तित्व एवं आपसी समझ की भावना विद्यमान रही है। मुस्लिम एवं हिंदू मतों के बीच रचनात्मक आदान-प्रदान से भक्ति एवं सूफी मतों के विकास को संबल मिला। भक्ति आंदोलन से जुड़े संप्रदायों ने सभी धर्मों के बीच समानता एवं ईश्वरीय अवधारणाओं के बीच मौलिक एकता पर ज़ोर दिया। इन सब ने सरल उपासना एवं विश्वास को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकारा तथा आवश्यकता से अधिक कर्मकांड एवं रूढ़ियों का विरोध किया। सूफी संप्रदाय ने आत्म-साक्षात्कार तथा आध्यात्मिक हर्षोन्माद में ब्रह्म के प्रति समर्पण का उपदेश दिया। यह संप्रदाय भारत में ईरान से आया और बौद्ध धर्म, वेदांत एवं योग के प्रभाव से विकसित हुआ।

इस प्रकार, एक लंबे समय से भारतीय समाज बहु-नृजातीय, बहु-सांस्कृतिक एवं बहु-धर्मी रहा है। समकालीन भारतीय संस्कृति एक जटिल प्रघटना है जिसकी उत्पत्ति कई शताब्दियों के दौरान विभिन्न तत्त्वों के बीच हुए समन्वित विकास के क्रम में हुई है। इसमें शास्त्रीय, लोक, जनजातीय तथा विभिन्न धार्मिक जीवन धाराओं का एक प्रकार्यवादी, संतुलित एवं समन्वित प्रतिमान के रूप में समायोजन हुआ है।

पारंपरिक भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएं

अध्यात्म के प्रति अपने सर्वोपरि झुकाव के कारण पारंपरिक भारतीय संस्कृति नैतिक मूल्यों एवं उदारता, सरलता तथा सादगी जैसी अभिरुचियों को प्रोत्साहित करती हैं। भारतीय संस्कृति की कुछ मुख्य विशेषताएं जो विभिन्न जातियों, जनजातियों, नृजातीय समूहों, धार्मिक समूहों एवं संप्रदायों में समान रूप से पाई जाती हैं, वे हैं :

1. **वैश्विक दृष्टि** : भारतीय संस्कृति के ढांचे में मानव को ईश्वर जनित जगत की अवधारणा के संदर्भ में समझा जाता है। यह दृष्टि मनुष्य केंद्रित न होकर सृष्टि की सभी सजीव एवं निर्जीव रचनाओं को ईश्वरीय अभिव्यक्ति मानती है। इसलिए यह ईश्वरीय योजना का सम्मान करती है तथा सह-अस्तित्व के आदर्श को प्रोत्साहित करती है। यह दृष्टि मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर को एक ही एकात्मक पूर्णता के आयाम के रूप में संयोजित करती है। यह सत्यम्-शिवम्-सुंदरम् के आदर्श में प्रतिबिंबित होती है।
2. **सामंजस्य** : भारतीय दर्शन तथा संस्कृति सहज सामंजस्य एवं व्यवस्था प्राप्त करने तथा इन सब का पूरे विश्व तक विस्तार करने की कोशिश करती है। भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि प्राकृतिक वैश्विक व्यवस्था ही नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का मार्गदर्शन करती है। आंतरिक सामंजस्य बाहरी सामंजस्य का आधार है। आंतरिक सामंजस्य के आधार पर स्वाभाविक रूप से बाहरी व्यवस्था तथा सौंदर्य का विकास होता है। भारतीय संस्कृति भौतिक एवं आध्यात्मिक के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करती है, जैसा कि 'पुरुषार्थ' की अवधारणा से सुस्पष्ट होता है।
3. **सहिष्णुता** : भारतीय संस्कृति यथार्थ के बहुआयामी पक्ष को स्वीकार करती है तथा दृष्टिकोणों, व्यवहारों, प्रथाओं एवं संस्थाओं की विविधता का स्वागत करती है। यह एकरूपता के विस्तार के लिए विविधता के दमन की कोशिश नहीं करती। भारतीय संस्कृति का आदर्श-वाक्य अनेकता में एकता एवं एकता में अनेकता दोनों हैं।

4. **कर्तव्य पर बल :** अधिकार की तुलना में भारतीय संस्कृति धर्म या नैतिक कर्तव्य पर बल देती है। यह माना जाता है कि अपने अधिकार मांगने की तुलना में अपना कर्तव्य निभाना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। यह अपने कर्तव्य और दूसरों के कर्तव्य की पूरकता पर बल देती है। इस तरह, सामुदायिक या पारिवारिक कर्तव्यों पर बल देकर भारतीय संस्कृति व्यक्ति में स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता की जगह परस्पर निर्भरता को प्रोत्साहित करती है।
5. **आत्मोत्सर्ग एवं बलिदान :** भारतीय संस्कृति उन लोगों का सम्मान करती है जो दूसरों के सुख के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान करते हैं। महर्षियों, संतों तथा संन्यासियों को राजाओं एवं व्यापारियों से हमेशा ऊंचा माना जाता है। सांस्कृतिक नायक के रूप में शहीदों को हमेशा ही राजाओं एवं व्यापारियों से अधिक महत्त्व दिया जाता है।
6. **निरंतरता के दायरे में परिवर्तन :** भारतीय संस्कृति ने हमेशा निरंतरता के दायरे में ही परिवर्तन को पसंद किया है। यह क्रमिक परिवर्तन या सुधार की पक्षधर रही है। यह आकस्मिक या क्षणिक परिवर्तन को प्रोत्साहित नहीं करती है। इसी कारण, अधिकांश वैचारिक परिवर्तन मौलिक चिंतन में बदलाव के परिणाम न होकर पारंपरिक स्रोतों की नई व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। व्यवहार के मामले में भी नए पुराने के समन्वय को वरीयता दी जाती है, न कि पुराने को बदल कर नए को स्वीकार करने पर ज़ोर दिया जाता है।
7. **संयुक्त परिवार का आदर्श :** विवाह के स्तर पर भारत में काफी विविधता है, परंतु परिवार के स्तर पर आश्चर्यजनक समानता है। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार का आदर्श या मूल्य करीब-करीब सभी भारतीय स्वीकार करते हैं। सभी व्यक्ति एक संयुक्त निवास स्थान में रहें यह आवश्यक नहीं है, लेकिन संयुक्त परिवार का आदर्श कायम रहता है। परिवार को भारतीय संस्कृति की पारिभाषिक विशेषता माना जाता है। भारतीय लोग व्यक्तिगत पहचान एवं पारिवारिक पहचान में अंतर करते हैं। पाश्चात्य शैली का व्यक्तिवाद भारत में कम ही पाया जाता है।
8. **कर्म का सिद्धांत :** ज़्यादातर भारतीय लोग मानते हैं कि एक व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगने से बच नहीं सकता। सभी को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। सामान्यत: विश्वास किया जाता है कि भाग्य का संबंध पुराने कर्मों से है।
9. **अनेकता एवं बहुलता :** भारतीय संस्कृति में अनेकता या बहुलता को जीवन, विचार तथा प्रथाओं की स्वाभाविक स्थिति माना जाता है। अधिकांश भारतीय लोग मानते हैं कि हर मार्ग, तरीके, प्रथा, परंपरा या पूजा-पद्धति से आत्म-साक्षात्कार एवं ब्रह्म-साक्षात्कार संभव हैं।

आधुनिक एवं समकालीन समय में भारतीय संस्कृति

सामाजिक संरचना की दृष्टि से पारंपरिक भारतीय संस्कृति का संबंध मोटे तौर पर राजाओं, पुजारियों, साधुओं, मुनियों, संन्यासियों, भिक्षुओं, विद्वानों, धनपतियों एवं समृद्ध समूहों के साथ जोड़ा जाता है। मध्यकाल के दौरान शास्त्रीय और लोक संस्कृति के संतुलन को बिगड़ने नहीं दिया गया। प्राचीन काल के दौरान शास्त्रीय परंपरा का संबंध केवल संस्कृत के साथ न होकर पाली तथा तमिल के साथ भी था। संस्कृत, हिंदू शास्त्रीय परंपरा, महायान की बौद्ध परंपरा तथा कुछ जैन विज्ञान परंपराओं

की वाहक थी। पाली थेरवादी बौद्ध परंपरा की वाहक थी तथा तमिल दक्षिण भारतीय शास्त्रीय परंपरा की वाहक थी।

आधुनिक काल के दौरान, अंग्रेजों द्वारा अभिव्यक्त शास्त्रीय परंपरा तथा स्थानीय लोक परंपराओं के बीच पहले जैसा सामंजस्य कायम नहीं रह पाया। पारंपरिक संतुलन को आधुनिकीकरण के कारकों तथा प्रक्रियाओं ने प्रभावित किया। आधुनिक सामाजिक शक्तियों ने शास्त्रीय तथा लोक परंपराओं के संबंध को विघटित किया। शहरी क्षेत्रों में नए मध्यम वर्ग का विकास हो रहा है तथा यह माना जाता है कि यह वर्ग शास्त्रीय परंपरा को अपनाने में अपनी भूमिका निभा रहा है। मध्यम वर्ग की विश्व दृष्टि तथा अभिरुचियां लोक परंपरा के वाहकों से आमूल रूप से भिन्न हैं। ये लोग अधिकांशत: पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों, प्रतिमानों, विचारों, अभिरुचियों, संस्थाओं के वाहक हैं तथा अंग्रेज़ी उनके लिए शास्त्रीय भाषा बन चुकी है।

संपूर्ण ऐतिहासिक काल के दौरान लोक तथा जनजातीय परंपराएं तुलनात्मक रूप से राजनीतिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रही हैं। शास्त्रीय परंपराओं का महत्त्व राजनीतिक शक्ति संरचना में परिवर्तन के साथ कई बार बदलता रहा है, परंतु लोक तथा जनजातीय परंपराएं हमेशा जीवंत बनी रही हैं। पारंपरिक भारत में शास्त्रीय परंपराओं ने हमेशा ही लोक तथा जनजातीय संस्कृति को उचित स्थान तथा महत्त्व दिया है। परंतु आधुनिक पश्चिमी शास्त्रीय सांस्कृतिक परंपराओं के वाहकों ने लोक तथा जनजातीय परंपराओं के प्रति कम सहिष्णुता दिखलाई है। वे लोग पारंपरिक संस्कृति को सामान्यत: आधुनिक संस्कृति की तुलना में पिछड़ा, बर्बर एवं अंधविश्वासी मानते हैं। वे लोग भारतीय संस्कृति के सभी तत्त्वों एवं धाराओं का आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण करने की कोशिश करते हैं।

आजकल पश्चिमीकरण, औद्योगीकरण, नगरीकरण, वैश्वीकरण तथा जनतंत्रीकरण जैसी प्रक्रियाएं भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को प्रभावित कर रही हैं। परंतु इन आधुनिक एवं पंथ-निरपेक्ष शक्तियों ने भी भारतीय संस्कृति की परंपरात्मक एवं धार्मिक जड़ों को पृथक नहीं किया है। पारंपरिक सांस्कृतिक माध्यम अभी तक भले ही अस्तित्व में नहीं है अपितु इनके कुछ पहलू उभर रही लोकप्रिय तथा शास्त्रीय संस्कृति में रचनात्मक रूप से शामिल किए जा चुके हैं।

भारतीय संस्कृति के पक्ष

कला एवं भवन निर्माण कला

भारतीय कला धर्म से अनुप्राणित है तथा पवित्र विषय-वस्तुओं के आस-पास केंद्रित है, परंतु इसमें असांसारिक एवं आत्मिक त्याग जैसी कोई बात नहीं है। जीवन, प्रकृति तथा मनुष्यों की सनातन विविधता भारतीय कला रूपों में प्रतिबिंबित हुई है। सिंधु घाटी के दिनों से ही भारत में स्थापत्य कला तथा भवन निर्माण कला काफी विकसित रही है। भारत लोक तथा जनजातीय कलाकृतियों का सबसे बड़ा भंडार है।

संगीत

संपूर्ण भारत में संगीत शब्द के अंतर्गत गायन एवं वादन दोनों रूपों को सम्मिलित किया जाता है। 'ऋग्वेद' तथा 'सामवेद' की धुनें शब्दों को संगीत में पिरोने का सबसे पुराना उदाहरण हैं। सबसे पुराना एवं विस्तृत भारतीय संगीत का सिद्धांत भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पाया गया है, जो ईसाई संवत के प्रारंभ में देखने को मिला था। भारतीय शास्त्रीय संगीत के दो पक्ष हैं – उत्तर भारतीय हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत एवं दक्षिण भारतीय कर्नाटक संगीत। शास्त्रीय संगीत के ज़्यादा विशिष्ट संप्रदायों को 'घराना' के

नाम से जाना जाता है। घरानों से जुड़े शास्त्रीय संगीत को भारतीय संस्कृति के विश्वविख्यात उपलब्धियों वाले पक्ष के रूप में भी जाना जाता है।

गायन एवं नृत्य हमेशा से ही भारतीय सामाजिक गतिविधियों एवं कार्यक्रमों के भाग रहे हैं। मेला, विवाह, उत्सव तथा अन्य आयोजनों को इनके बिना अधूरा माना जाता है। फिल्मी गानों ने आधुनिक काल में संगीत की लोकप्रियता को आम जनों के बीच और अधिक विस्तृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

नृत्य

भारतीय शास्त्रीय नृत्य भारतीय मानस की आध्यात्मिकता एवं कलात्मकता का सुंदर एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। पारंपरिक भारतीय शास्त्रों में नृत्त (संगीत) एवं नट (नाटक) के कई वर्णन आए हैं। नृत्य एवं संगीत के कार्यक्रम भारतीय गृहस्थ जीवन के हर सोपान पर आवश्यक रूप से शामिल किए जाते हैं। एक वर्गीकरण भारतीय नृत्य के तीन पक्ष बताता है – नाट्य, नृत्य तथा नृत्त। नाट्य नाटक का समानार्थी है। नृत्य अभिनय प्रधान नर्तन का उदाहरण है जो शब्दों की संगीतबद्ध ताल पर किया जाता है, जबकि नृत्त शुद्ध नर्तन का उदाहरण है जहां शारीरिक गतियों के द्वारा न तो किसी भाव की अभिव्यक्ति की जाती है और न ही किसी अर्थ की।

भारत में शास्त्रीय एवं लोक नृत्यों की समृद्ध विविधता है। कुचिपुड़ी (आंध्र प्रदेश), ओडिसी (उड़ीसा), कथकली (केरल), मोहनीअट्टम (केरल), भरतनाट्यम (तमिलनाडु), मणिपुरी (मणिपुर) और कत्थक (उत्तर प्रदेश) एवं छऊ (उड़ीसा, पश्चिम बंगाल एवं झारखंड) भारत के कुछ उल्लेखनीय नृत्य रूप हैं। इनके अलावा, भारत में लोककथाओं, आख्यानों, मिथकों आदि की समृद्ध परंपरा रही है जिनमें नृत्य और गायन को मिश्रित करके समन्वित कला रूपों का विकास किया गया है।

नाटक

यह मान्यता है कि शास्त्रीय नृत्य का जन्म दैवीय स्रोत से हुआ है, जबकि नाटक का जन्म आम जन के बीच में हुआ। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' को अभी भी पारंपरिक भारतीय नाट्य विधा का संपूर्ण मार्गदर्शन करने वाली कृति माना जाता है। आधुनिक भारतीय नाटकों की विधा का जन्म तीन औपनिवेशिक नगरों कोलकाता, मुंबई एवं चेन्नई में हुआ। यह यूरोपीय नाट्य विद्या की मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों से बहुत ज़्यादा प्रभावित रहा है।

पारंपरिक भारतीय नाटकों के अंतर्गत कई स्पष्ट धाराएं रही हैं। पहली धारा के नाटकों की भाषा संस्कृत थी। यह नाट्य परंपरा राजदरबारों एवं मंदिरों तक सीमित रही है और काफी परिष्कृत तथा प्रशिक्षित संवेदात्मक अभिरुचियों की अभिव्यक्ति करती है। दूसरी धारा के अंतर्गत स्थानीय भाषाओं और बोलियों में खेला जाने वाला नाटक है जो विभिन्न स्थानों एवं क्षेत्रों में खेला जाता है। भारत में सामान्यत: नाटक तब खेला जाता है जब फसलें कट जाती हैं। अभिनेताओं तथा दर्शकों दोनों के पास फुर्सत का समय होता है। यह खुले रंगमंचों पर खेला जाता है। नाटक का कथानक, सामान्यत: एक मिथक होता है जो दर्शकों को पहले से पता होता है। इस कथानक को नृत्य, संगीत, अभिनय और नृत्य संयोजन के माध्यम से नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

भारत में राज्य, बाज़ार एवं संस्कृति

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्य ने संस्कृति के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य ने साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, ललित कला

अकादमी, नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट जैसी अनेकों संस्थाओं को कला, साहित्य तथा संस्कृति के संवर्धन तथा संरक्षण के लिए विकसित किया है।

संस्कृति विभाग सांस्कृतिक संस्थाओं का नियमन करने वाली केंद्रीय संस्था है। परंतु धीरे-धीरे हाल के वर्षों में गैर-सरकारी क्षेत्र भी कला तथा संस्कृति के महत्त्वपूर्ण समर्थक एवं आयोजक के रूप में उभर रहे हैं।

भारत में बाज़ार, राज्य व्यवस्था के निर्माण तथा संस्कृति के बीच काफी घनिष्ठ अंत:क्रिया होती है। व्यापार ने व्यक्तियों की गतिशीलता को संभव बनाया है तथा सांस्कृतिक उत्पादों एवं गतिविधियों के लिए बाज़ार का निर्माण किया है। व्यापार से जुड़ी वाणिज्य की गतिविधियों एवं शासकों के संरक्षण ने साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों को भी प्रभावित किया है। भारत में महत्त्वपूर्ण पारंपरिक नगर (कांचीपुरम, काशी, उज्जैन इत्यादि) व्यापार के भी महत्त्वपूर्ण केंद्र रहे हैं।

कला को संरक्षण देने से हमेशा सम्मान तथा प्रतिष्ठा मिलती रही है। एक स्थापित या उभरते हुए कलाकार की सहायता करने वाले के कार्य की सराहना की जाती है। पारंपरिक काल में और कुछ हद तक आज भी मंदिरों के व्यवस्थापक भी कला के संरक्षकों एवं सुविधादाताओं की भूमिका निभाते रहे हैं। हालांकि समकालीन समय में कला तथा परिष्कृत सांस्कृतिक गतिविधियों के मुख्य संरक्षक राज्य की संस्थाएं तथा बाज़ार हैं, वैश्वीकरण के इस युग में व्यापार संघों एवं बाजार की शक्तियां खास महत्त्वपूर्ण बन गई हैं।

संस्कृति तथा जनसंचार के साधन

आधुनिक जनसंचार के साधनों – रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म, अखबारों, पत्रिकाओं तथा शोध पत्रिका ने भारतीय संस्कृति को नया स्वरूप तथा अभिव्यक्ति के नए तरीके दिए हैं। रेडियो ने अखिल भारतीय स्तर पर भारतीय संस्कृति को हाल के दिनों में संवर्धित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। रेडियो का प्रसारण 1927 में शुरू हुआ तथा 'ऑल इंडिया रेडियो' की स्थापना 1936 में हुई। 'ऑल इंडिया रेडियो' तथा हाल के दिनों में गैर-सरकारी चैनलों के माध्यम से पूरे देश में भारतीय शास्त्रीय संगीत के श्रोता बन रहे हैं। यह फिल्म तथा लोकप्रिय संगीत के प्रचार-प्रसार के लिए भी महत्त्वपूर्ण माध्यम रहा है।

भारतीय टेलीविजन का संजाल आज विश्व का सबसे विस्तृत स्थलीय तंत्र बन गया है। डिश एंटीना तथा केबल टी. वी. ने आज अधिकांश शहरी तथा ग्रामीण घरों को काफी संख्या में टेलीविजन चैनलों से जोड़ दिया है। यह काफी बड़ा संजाल एक तरह से करीब-करीब हर प्रकार की कला तथा सांस्कृतिक रूपों के प्रसारण का लोकप्रिय माध्यम है। दूसरी तरफ, टेलीविजन बाज़ारी शक्तियों एवं विज्ञापन शुल्कों के प्रभाव में ऐसे लोकप्रिय कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दे रहा है जो सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक दृष्टिकोण से मूल्यहीन कहे जा सकते हैं।

भारतीय फिल्में अपनी उपलब्धियों और सीमाओं के साथ भारतीय सांस्कृतिक जीवन की सबसे प्रामाणिक अभिव्यक्तियों में शामिल की जाती हैं। भारत में सबसे पहली फीचर फिल्म करीब 1913 में बनी थी। आज दुनिया में सबसे ज़्यादा फिल्मों का निर्माण भारत में होता है। एक सौ से ज़्यादा फिल्में करीब एक दर्जन भाषाओं में हर वर्ष बनती हैं। इसके बावजूद, सिनेमा भारत में मूलत: एक शहरी माध्यम रहा है। भीतरी इलाकों पर इसका प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा है। भारत में फिल्मों ने सबसे ज़्यादा प्रभाव संगीत पर डाला है। भारत में फिल्म संगीत आजकल सबसे लोकप्रिय संगीत के रूप में उभरा है।

फिल्म संगीत का स्वाभाविक एवं समृद्ध विकास पुराने लोक संगीत के स्रोत से हुआ है। यह करीब-करीब आधुनिक भारत का लोक संगीत बन चुका है, दूसरी तरफ जिसे आजकल शास्त्रीय संगीत माना जाने लगा है उसमें से अधिकांश का जन्म उस संगीत से हुआ है जिसका उद्देश्य लोक दर्शकों का मनोरंजन रहा था।

पिछले कुछ वर्षों में रेडियो, टेलीविजन एवं फिल्मों के संगीत ने भारतीय शास्त्रीय संगीत को पुनर्जीवित किया है। शास्त्रीय संगीत के डिस्क एवं कैसेट बाज़ार में काफी लोकप्रिय हैं। शास्त्रीय संगीत के समारोहों में अब पिछले दो दशकों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रोता होते हैं और उनमें एक बड़ा भाग युवा श्रोताओं का होता है।

शब्दावली

सभ्यता – संस्कृति तथा सभ्यता को एक साथ पूरक शब्दों के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। संस्कृति सामान्यतः अभौतिक, प्रतीकात्मक तत्त्वों का बोध कराती है जबकि सभ्यता भौतिक तथा यंत्रीय तत्त्वों या आयामों का बोध कराती है।

लोक या देसी – लोक या क्षेत्रीय संस्कृति।

मार्गी – यह भारतीय परंपराओं में कला एवं संस्कृति की शास्त्रीय परंपरा से संबंधित है।

अभ्यास

1. संस्कृति क्या है? स्पष्ट कीजिए।
2. संस्कृति के प्रकारों पर एक टिप्पणी लिखिए।
3. भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय संस्कृति के तत्त्व क्या हैं? व्याख्या कीजिए।
5. भारत में धर्म तथा संस्कृति के संबंधों की व्याख्या कीजिए।
6. पारंपरिक भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
7. आधुनिक काल में भारतीय संस्कृति की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
8. भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों की विवेचना कीजिए।
9. भारतीय संस्कृति पर जन-संचार माध्यमों के प्रभावों की विवेचना कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- बोर्डन, कार्ला एम., (सं.) ***कनटेंपरेरी इंडिया : ऐसेज़ ऑन दि यूजेज़ ऑफ ट्रैडिशन***, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1989

- मुकर्जी, डी. पी., ***सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन कल्चर,*** रावत प्रकाशन, जयपुर, 1948/1979
- मुखर्जी, राधाकमल, ***द कॉस्मिक आर्ट ऑफ इंडिया,*** एलाइड पब्लिशर्स, मुंबई, 1965
- पांडे, गोविंद चंद्र, ***फाउंडेशंस ऑफ इंडियन कल्चर,*** बुक्स एंड बुक्स, नई दिल्ली, 1984
- सिंह, योगेंद्र, ***कल्चरल चेंज इन इंडिया : आइडेंटिटी एंड ग्लोबलाइज़ेशन,*** रावत प्रकाशन, जयपुर, 2000
- त्रिपाठी, जी. सी., एवं कुल्के, हर्मन, (सं.), ***रिलिजन एंड सोसाइटी इन इस्टर्न इंडिया,*** मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

भारत में राजनीति

भूमिका

राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाओं का प्रयोजन समाज में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखना होता है। आधुनिक समाजों में शांति एवं व्यवस्था बनाने की सर्वप्रमुख ज़िम्मेदारी राज्य की मानी जाती है, परंतु समाज अपने आप में परंपरा के सर्वस्वीकृत एवं सुपरिभाषित नियमों के आधार पर चलता है। राज्य अपने नागरिकों के सामाजिक व्यवहार को राजकीय कानूनों तथा अधिनियमों के आधार पर नियमित करता है, जबकि खुद राज्य के कानूनों एवं अधिनियमों के निर्माण पर सामाजिक आदर्श एवं प्रतिमानों का प्रभाव होता है। भारत में राज्य तथा समाज की संस्थाओं के बीच अनुपूरकता का संबंध होता है।

शक्ति क्या है

शक्ति सामाजिक इकाइयों (व्यक्तियों एवं समूहों) के बीच संबंधों का एक पक्ष है। एक व्यक्ति या समूह किसी दूसरे की तुलना में शक्तिशाली हो सकता है। मैक्स वैबर ने शक्ति को इन शब्दों में परिभाषित किया है, "व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का विपरीत या विरोध की स्थिति में भी सामुदायिक गतिविधि द्वारा इच्छा पूर्ति की संभावना को शक्ति कहते हैं।"

वृहत रूप में समाजशास्त्र में समाज में शक्ति की प्रकृति के संबंध में मुख्यतः दो दृष्टिकोण हैं : (क) रॉबर्ट एस. लिंड का जो मैक्स वैबर के दृष्टिकोण के पक्षधर हैं तथा साथ ही कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण से भी कुछ-कुछ प्रभावित हैं। (ख) टॉलकट पारसंस का दृष्टिकोण। लिंड व वैबर के दृष्टिकोण के अनुसार किसी के पास शक्ति अन्य को शक्ति से वंचित करने की शर्त पर होती है। इसका अर्थ यह है कि किसी समाज में शक्ति की मात्रा निर्धारित व निश्चित होती है। शक्ति के इस सिद्धांत को शून्य कुल (ज़ीरो-सम) या नियत-कुल (कांस्टेंट-सम) कहा जाता है। मार्क्सवादी दृष्टि से समाज सामान्यतः दो वृहद् समूहों में विभाजित होता है, जिसमें एक शक्तिशाली शासक वर्ग व दूसरा शक्तिहीन कार्मिक वर्ग होता है। इसके अनुसार समाज में प्रभावशाली वर्ग की कुल शक्ति प्राप्ति दूसरे सदस्यों की कुल शक्ति हीनता को निरूपित करती है।

इसके विपरीत, पारसंस के अनुसार शक्ति एक सामाजिक संसाधन है जो न्यास के निहित होता है एवं सत्ताधारी लोग इस संसाधन का उपयोग सबके हित के लिए सुनिश्चित करते हैं। शक्ति वह क्षमता है जिससे सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समाज के संसाधनों को संचालित किया जाता है। सक्षम समाजों में सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के सामूहिक प्रयासों से अतिरिक्त शक्ति, प्रतिष्ठा तथा फायदे उत्पन्न होते हैं, जिनमें सामूहिक भागीदारी होती है। इस दृष्टि से शक्ति के प्रयोग का सामान्य अर्थ यह

है कि प्रत्येक व्यक्ति विजयी होता है। स्पष्टतः इस अवधारणा में शक्ति धनात्मक-कुल (पॉज़ीटिव सम) या चर-क़ुल (वेरिएबल सम) है। इससे सहयोग व पारस्परिकता का उद्भव होता है, जो समाज के स्थायित्व एवं कल्याण के लिए आवश्यक है।

पारसंस के अनुसार राजनीतिक नेतृत्वकर्ताओं में राजनीतिक समर्थन वैसे ही संचित होता है जैसे बैंक में धन। किसी भी चुनाव के अवसर पर मतदाता इस शक्ति के लिए अन्य राजनीतिक उम्मीदवार का चुनाव कर सकते हैं। इस प्रकार शक्ति अंततः समाज के सभी सदस्यों के पास है। जिस तरह संचित धन से जमाकर्त्ता को बैंक में ब्याज़ मिलता है, उसी तरह मतदाता शक्ति देकर सुविधाएं प्राप्त करते हैं। इस तरह समाज में शक्ति बढ़ भी सकती है और घट भी सकती है।

राजनीति व राजनीतिक संस्थाओं के विश्लेषण में शक्ति की उपरोक्त दोनों प्रकार की अवधारणाओं का समाजिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रयोग किया गया है।

सत्ता की प्रकृति

मैक्स वैबर की सत्ता की अवधारणा में वस्तुतः शक्ति के दोनों सिद्धांतों के बीच समन्वय देखने में आता है। शक्ति का संबंध बल प्रयोग या जबरदस्ती से किया जाता है, लेकिन इस तरह की शक्ति को मुश्किल से ही समर्थन प्राप्त होता है, विशेषकर उनसे जिन पर ये आरोपित होती है। इसलिए शक्ति आरोपित करके शक्ति को सत्ता में रूपांतरित करने का प्रयास किया जाता है। सत्ता समाज की संस्थापित व वैधानीकृत शक्ति है। सत्ता नियंत्रण को सर्वस्वीकृति प्राप्त होती है क्योंकि इसे उचित माना जाता है। शासित (या प्रशासित) लोग यह मानते हैं कि सत्ता के माध्यम से शक्ति का प्रयोग उनके ही हितों में होता है, न कि मात्र शक्तिवान लोगों के लिए जो सत्ता में स्थित हैं।

सत्ता या वैधानीकृत शक्ति समाज के किसी एक व्यक्ति या वर्ग या संस्थान में केंद्रित हो सकती है या यह पूरे समाज में फैली हुई हो सकती है। पारंपरिक समाजों में दोनों ही प्रकार के शक्ति-वितरण के उदाहरण मिलते हैं :

- ❑ किसी राजा, अभिजात वर्ग अथवा धार्मिक संस्था के मुखिया द्वारा सर्व-प्रभावी शक्ति का प्रयोग।
- ❑ नातेदारी नियमों व रिवाजों के अनुरूप संपूर्ण समाज में वितरित शक्ति।

आधुनिक समाज में राज्य

आधुनिक औद्योगिक समाज में शक्ति राजकीय संस्थाओं में केंद्रित एवं इसके नागरिकों में वितरित होती है। मैक्स वैबर की परिभाषा के अनुसार राज्य एक मानकीय समुदाय होता है जो किसी निश्चित क्षेत्र में भौतिक बलों के न्यायसंगत उपयोग का एकाधिकार रखता है। अतः राज्य सामाजिक नियंत्रण के लिए एक महत्त्वपूर्ण अभिकरण है जो विधिक माध्यमों से व अंततः भौतिक बल से अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। किसी राज्य की चार विशिष्टताएं हैं : जनसंख्या, क्षेत्र (भौगोलिक, राजनीतिक व सामाजिक), सरकार व प्रभुत्व। राज्य को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता की भी आवश्यकता होती है। इसका विकास ऐतिहासिक प्रक्रिया से होता है जिसमें शक्ति की न्यायपरकता और शक्ति व्यवस्था का एकीकरण मुख्य अवयव होते हैं।

सामाजिक संबंधों की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए लोगों को कुछ निश्चित अनुशासन का सम्मान करना पड़ता है। किसी भी व्यवस्थित समाज में 'अनुशासन' बाह्य अभिकरणों, जैसे-पुलिस, सेना या न्यायपालिका से होना ज़रूरी नहीं है। यह लोगों द्वारा सामाजिक नियमों व मूल्यों या राज्य के संविधान को स्वैच्छिक स्वीकृति देने से भी हो सकता है।

स्पष्टत: सभी राजनीतिक संस्थाओं के निश्चित नैतिक पक्ष होते हैं जो लोगों से जुड़े होते हैं एवं अक्सर नियमों व मूल्यों का रूप ले लेते हैं।

भारत में राज्य व प्रजातांत्रिक राजनीति का उद्भव

❑ औपनिवेशिक विरासत का रूपांतरण

स्वतंत्रता आंदोलन के परिणामस्वरूप उदित स्वतंत्र भारतीय राज्य में दो विरोधात्मक विरासतें उल्लेखनीय हैं। इसकी कुछ संस्थाओं की रूपरेखा औपनिवेशिक शासन की आवश्यकताओं के अनुरूप बनी। यद्यपि अंग्रेजी शासन ने कुछ उदारवादी तत्वों, जैसे विधि का शासन एवं सापेक्षित रूप से स्वतंत्र न्यायपालिका को लागू किया, परंतु उनके द्वारा स्थापित राजनीतिक संस्थाएं औपनिवेशिक शासन की ज़रूरतों से प्रभावित रहीं। सेना, नौकरशाही, पुलिस, प्रशासनिक नियमों की संरचनाएं और इन सभी का आम जनता से अलगाव स्पष्टत: इसी विरासत के परिणाम रहे हैं। साथ ही एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत स्वतंत्रता आंदोलन का परिणाम है तथा यह आम जनता के हितों की रक्षा हेतु औपनिवेशिक संरचनाओं में परिवर्तन के लिए कटिबद्ध है। वर्तमान स्वतंत्र राज्य अंग्रेज़ों से विरासत में मिली राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति एवं प्रकार्यों को औपनिवेशिक प्रभावों से मुक्त करने का प्रयास कर रहा है। साथ ही इस बात की कोशिश की जा रही है कि राज्य आम जनता की अपेक्षाओं तथा ज़रूरतों के प्रति संवेदनशील और उत्तरदायी हो।

❑ संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक भारतीय गणतंत्र

स्वतंत्रता के बाद भारत ने 26 नवंबर, 1949 को नया संविधान अपनाया जो 26 जनवरी, 1950 से प्रभावी हुआ। संविधान एक राज्य का मौलिक सिद्धांत है जो सरकार की शक्ति व कर्तव्यों को निर्धारित करता है एवं नागरिकों के अधिकारों को भी सुनिश्चित करता है। इस प्रकार यह किसी देश की एक सावयवी विधि व्यवस्था है।

संविधान की प्रस्तावना उसके अभिप्राय एवं विस्तृत उद्देश्यों की घोषणा करती है। इसके अनुसार स्वतंत्र भारत में राज्य संप्रभु हैं। अपने संबंधित क्षेत्र व नागरिकों के परिप्रेक्ष्य में किसी भी क्रिया व व्यवस्था के निर्णय की सर्वोच्च शक्ति राज्य में निहित है। ये प्रजातांत्रिक राज्य हैं जिसमें अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष ढंग से चुने गए जन प्रतिनिधियों द्वारा शक्ति का प्रयोग होता है। यह एक गणराज्य है जिसमें सरकार का प्रमुख राष्ट्रपति होता है जिसका चुनाव जनता करती है।

स्वतंत्र भारत में संसदीय प्रजातंत्र स्वीकार किया गया। इस व्यवस्था में जनता का सरकार पर नियंत्रण होता है। यह दो तरीकों से होता है : (1) चुनी गई विधायिका जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और (2) यह राज्य के विधान सभाओं व केंद्र की संसद के लिए निश्चित समय पर वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव सुनिश्चित करती है। कोई भी व्यक्ति धर्म, प्रजाति, जाति या लिंग के आधार पर मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है। संविधान के इन प्रावधानों (अनुच्छेद 325 व 326) के द्वारा पारंपरिक रूप से जाति अनुक्रम, आर्थिक असमानताओं व लैंगिक असमानताओं वाले समाज में दूरगामी परिवर्तन आए हैं। आज भारत में राजनीति अभिजात वर्ग तक सीमित नहीं है। आधुनिक भारत में आम जनों की राजनीतिक गतिविधियों में व्यापक भागीदारी से राजनीतिक व्यवस्था की मज़बूती, प्रभाव व न्यायसंगत लक्षणों में वृद्धि हुई है। इस प्रकार भारत आज विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र व व्यापक रूप से राजनीतिक समाज के रूप में जाना जाता है।

भारतीय लोकतंत्र की सफलता को आधुनिकीकरण, लोकतंत्रीकरण एवं आर्थिक विकास की ओर उन्मुख राजनीतिक प्रक्रियाओं से प्रोत्साहन मिला। ये राजनीतिक क्रियाएं संसद, मंत्रिपरिषद् तथा नौकरशाही से नियंत्रित थीं। नौकरशाही के सदस्य जो स्पष्ट प्रतियोगिता के द्वारा चुने जाते हैं जनप्रतिनिधियों द्वारा बनाई गई नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। ये नौकरशाह जन्म, जाति, प्रजाति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर नहीं बल्कि योग्यता के विवेकपूर्ण सूचक द्वारा चयनित होते हैं।

औपनिवेशिक शक्ति ने भारत को धर्म के आधार पर विभाजित किया जिससे विध्वंसात्मक सांप्रदायिक तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई। स्वतंत्र भारत में धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार किया गया, जिसका अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं है और राज्य न तो किसी धर्म का पक्ष लेता हैं और न ही किसी धर्म में हस्तक्षेप करता है। धर्मनिरपेक्षता का पर्याय सर्वधर्म समभाव है। सरकारी सेवाओं में व्यक्ति के धार्मिक संबंधों को ध्यान में नहीं रखा जाता है (अनुच्छेद 15 व 16)।

भारतीय राजनीति में समाजवादी व्यवस्था को अपनाते हुए समाज में असमानता को कम करने का प्रयत्न, प्रजातांत्रिक राष्ट्र निर्माण के लिए किया गया है।

न्याय, स्वतंत्रता व समानता

भारतीय संविधान सामाजिक व आर्थिक न्याय के लिए मूलभूत अधिकारों का प्रावधान करता है। संविधान के खंड 3 में व्यक्तियों के अधिकारों के छः समूह दिए गए हैं, जो निम्नलिखित हैं:

1. समता का अधिकार
2. स्वतंत्रता का अधिकार
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार
4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
5. संस्कृति और शिक्षा का अधिकार
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार

संविधान में संपत्ति का अधिकार भी सुनिश्चित किया गया था जो बाद में सामाजिक व आर्थिक न्याय के लिए संशोधित किया गया। स्वतंत्र न्यायपालिका इन अधिकारों व स्वतंत्रताओं को सुरक्षा प्रदान करती है। स्वतंत्र भारत में इन संवैधानिक प्रावधानों के द्वारा पारंपरिक रूप से चली आ रही जाति, लिंग, धर्म, क्षेत्र या प्रजाति पर आधारित असमानताओं व निर्योग्यताओं को समाप्त करने की राज्य की प्रतिबद्धता व्यक्त होती है। इस प्रकार आधुनिक समाज की विशिष्टताओं में अस्पृश्यता के अभिशाप को समाप्त करने की व्यवस्था भी की गई है। व्यक्तियों की स्वतंत्रता सुनिश्चित कर संविधान सरकार में या इसके बाहर स्थित किसी भी व्यक्ति द्वारा मनमाने ढंग से शक्ति प्रयोग को रोकने के प्रयत्न करता है।

संविधान की प्रस्तावना में अभिव्यक्त मानवतावादी व प्रजातांत्रिक आदर्शवाद को राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों द्वारा (भाग 4 में) बल प्राप्त होता है। इन निर्देशक सिद्धांतों द्वारा राज्य को लोगों के कल्याण व न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था बनाने के लिए विस्तृत कार्यसूची प्राप्त होती है। इसके क्रियान्वयन से राज्य संसाधनों एवं उत्पादन के साधनों का न्यायपूर्ण वितरण करता है व समाज के वंचित समूहों के स्वास्थ्य व शक्ति की सुरक्षा करता है। यद्यपि नागरिक इन निर्देशक सिद्धांतों में वर्णित अधिकारों के लिए न्यायालय में अपील नहीं कर सकते, लेकिन ये सिद्धांत मानक उपक्रम होते हैं जिससे सरकार द्वारा जन कल्याण एवं सामाजिक उत्थान के सरकार के प्रयत्नों में सहयोग आदि का मूल्यांकन किया जाता है। संविधान में प्रस्तावित नागरिकों के इन अधिकारों की रक्षा न्यायपालिका द्वारा की जाती है।

संघीय संरचना

स्वतंत्रता के तुरंत बाद भारत में अनेक समस्याओं का उदय हुआ, जिनमें भारतीय रियासतों का क्षेत्रीय व प्रशासकीय एकीकरण, विभाजन के साथ हुई सांप्रदायिक हिंसा, पाकिस्तान से विस्थापित शरणार्थियों को पुन:स्थापित करना व विद्रोह आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कुछ दीर्घकालिक समस्याएं, जैसे गरीबी भी थी।

राष्ट्रीय आंदोलन ने भारत को राजनीतिक व भावुकतापूर्ण सूत्र में बांधने में केंद्रीय भूमिका निभाई और इस प्रकार 'राजनीतिक पहचान व देशभक्ति' की सर्वमान्य रूपरेखा का उद्‌भव हुआ। भारतीय रियासतों के संपूर्ण भारत में एकीकरण की समस्या भारतीय नेताओं के लिए चुनौतीपूर्ण थी। भाषाई, सांस्कृतिक व आंचलिक भिन्नताओं एवं राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सशक्त केंद्र व आंशिक रूप से स्वायत्त राज्यों या इकाइयों वाली संघीय संरचना की संविधान में व्यवस्था की गई। भारतीय संविधान में केंद्रीय सरकार व राज्यों के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय राज्यों की स्वायत्तता के संरक्षक के रूप में कार्य करता है। इसके अतिरिक्त, संघीय सरकार को शक्ति प्राप्त है कि वह पृथकतावादी गतिविधियों को रोक सके एवं राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करे। अखिल भारतीय सेवाएं भी इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहयोग करती हैं। अनेक राज्यों द्वारा उनको दी गई शक्ति व स्वायत्तता की सीमा पर असंतोष व्यक्त किया जाता है। लेकिन भारत जैसे सांस्कृतिक पहचान व राजनीतिक हितों की विविधता वाले समूहों के राष्ट्र में इस तरह का असंतोष स्वाभाविक है, जिसका उचित नीतियों व उनके क्रियान्वयन द्वारा संरचनात्मक समाधान ढूंढ़ा जा सकता है। भारतीय राजनीति को जाति, भाषा, जनजातीय पहचान, आप्रवास व विभिन्न क्षेत्रों के असमान विकास से चुनौती मिलती है। भारतीय राज्य प्रतियोगी मांगों की इन चुनौतियों का संतुलित हल निकालने की संपूर्ण चेष्टा करते रहे हैं।

प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण एवं पंचायती राज

भारतीय संविधान प्रजातंत्र को जनता की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए राज्यों को निर्देश देता है कि ग्राम पंचायतों को आवश्यक शक्ति व सत्ता प्रदान करें ताकि स्वशासी-सरकार के सिद्धांत लोगों को उपलब्ध हो सकें (अनुच्छेद 40)। यह स्वशासन, ऊपर से नीचे तक शक्ति के विकेंद्रीकरण एवं स्व के निर्माण और कुल मिलाकर ग्रामीण समुदायों की आत्मनिर्भरता संबंधी गांधी जी के विचारों के आलोक में सुनिश्चित किया गया। गांधी जी के अतिरिक्त राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य नेतृत्वकर्ताओं ने भी इस विचार को समर्थन दिया था। भारत में प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण को पंचायती राज के रूप में 1959 में प्रस्तुत किया गया। पंचायती राज का संबंध 1952 में प्रारंभ की गई ग्राम्य विकास योजना (जैसे सामुदायिक विकास योजना) से है। तीन-स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था का उद्देश्य जनसाधारण का विकास, योजनाओं के क्रियान्वयन व निर्णय लेने की प्रक्रिया में सीधी भागीदारी सुनिश्चित करना है। संविधान में 73वें व 74वें संशोधन के द्वारा पंचायतों (गांवों में) और नगरपालिकाओं (शहरों में) को ज़्यादा शक्ति व सत्ता देने की व्यवस्था की गई है। साथ ही, इनमें नियमित चुनाव को आवश्यक घोषित किया गया है।

सन 1951 से 1964 की अवधि में राजनीति व आर्थिक व्यवस्था की पुनर्संरचना का शुभारंभ हुआ। इस क्रम में लिए गए कुछ विशेष निर्णयों में भूमि सुधार, सुनियोजित आर्थिक विकास, जन-क्षेत्र का विस्तार आदि आते हैं। 1952 में सामुदायिक विकास योजना व 1959 में पंचायती राज प्रमुख ग्रामीण विकास

कार्यक्रमों में आते हैं। पंचायती राज विधेयक में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण घोषित किया गया।

राजनीतिक दल और भारतीय प्रजातंत्र

प्रजातांत्रिक सरकार के गठन के लिए राजनीतिक दलों की अनिवार्य भूमिका होती है। ये दल किसी भी जनसामान्य के विषयों पर समान दृष्टि रखने वाले लोगों के संगठित समूह हैं जो राजनीतिक इकाई की तरह कार्य करते हैं। ये अपनी नीतियों को क्रियान्वित कराने के लिए सरकार पर नियंत्रण की चेष्टा करते हैं। संविधान में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के साथ-साथ संगठन बनाने की भी स्वतंत्रता है और समय-समय पर वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा उनके जनप्रतिनिधियों का चुनाव कराने व विधायिका में भेजने का भी प्रावधान है। भारत में बहु-दलीय राजनीतिक व्यवस्था है। इसमें जनता को 'विशेषकर अल्पसंख्यकों व हाशिये के समूहों को' पर्याप्त राजनीतिक विकल्प प्राप्त होते हैं। राजनीतिक एकता के एक उदाहरण के रूप में अखिल भारतीय दलों का वर्चस्व स्पष्ट है। समकालीन स्थिति में आंचलिक दलों की वृद्धि एवं गठबंधन सरकार के प्रयोग से क्षेत्रीय व छोटे वर्गों के हितों की अभिव्यक्ति स्पष्ट होती है।

सन 1947 से 1977 तक कांग्रेस राष्ट्रीय स्तर पर एकमात्र सत्तारूढ़ दल था। 1977 के बाद राष्ट्रीय एवं प्रांतीय स्तर पर कांग्रेस को पदस्थापित कर विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच गठबंधन के द्वारा सरकार बनाई गई। राजनीतिक दलों के वर्तमान में दो वृहद् गठबंधन देखे जा सकते हैं। एक का नेतृत्व भारतीय जनता पार्टी व दूसरे का कांग्रेस करती है। एक समय में जनता पार्टी ने भारतीय राजनीति के केंद्रीय स्थल में अपना स्थान बनाया था। अब वामपंथी एवं अन्य क्षेत्रीय दल भी अखिल भारतीय छवि प्राप्त करने के दावे करते हैं। स्वतंत्रता के तुरंत बाद राजनीतिक दलों में पेशेवर वर्गों जैसे वकीलों की बहुतायत देखी गई थी। लेकिन अब यह वर्चस्व कम हुआ है और उनकी जगह किसानों व कृषि से जुड़े अन्य वर्गों से भी नेतृत्व का प्रारंभ हुआ है।

भारत में दलीय व्यवस्था, जातिगत राजनीति और मतदान व्यवहार

प्रारंभ में भारतीय राजनीति एक-दलीय चरित्र की विशेषता रखती थी। लंबे समय से भारत के राजनीतिक क्षेत्र में सक्रियता एवं संगठन की दक्षता के कारण कांग्रेस पार्टी ने राष्ट्र को समग्र नेतृत्व प्रदान किया। इस दल की ऐतिहासिक महत्ता उसके राष्ट्रीय आंदोलन व सामाजिक पुनर्निर्माण में सक्रियता से संबंधित है।

राजनीतिक विकास में दलीय व्यवस्था के योगदान का निर्धारण उसके उत्प्रेरक की भूमिका से किया जाता है जो सरकार को विभिन्न स्तरों पर क्रियाशील करता है। ये दल जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं एवं शक्ति के लिए आपस में प्रतियोगिता करते हैं। ये राजनीतिक प्रक्रिया को सरकार के कार्य के लिए संसाधन-स्वरूप में एवं उसके कार्य की आलोचना के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

शक्ति प्राप्त करने के लिए विभिन्न राजनीतिक दल जाति और धर्म जैसे भावनात्मक तत्वों का इस्तेमाल करते हैं। रजनी कोठारी ने इस प्रवृत्ति का विस्तृत उल्लेख किया है। राजनीतिक दल जाति व्यवस्था को अपने सांगठनिक पाश में लेकर जनसमर्थन प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं। राजनीति को अपनी गतिविधि का क्षेत्र बनाने के क्रम में जाति एक पहचान का कार्य करती है एवं शक्ति की स्थिति प्राप्त करने की चेष्टा करती है। राजनीतिक दल अपनी शक्ति को संगठित व समग्र करने के लिए जाति समूहों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। चुनाव

आधारित प्रजातांत्रिक राजनीति में जाति व्यवस्था की पारंपरिक संरचना की भूमिका बढ़ रही है। मतदान प्रणाली एवं मतदाताओं के व्यवहार से पारंपरिक जाति व्यवस्था व आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के बीच के संबंध पर समुचित प्रकाश पड़ता है।

भारत में जनतांत्रिक राज्य की प्रकृति अन्य जनतांत्रिक राज्यों से अलग है। भारत ने आधुनिक जनतांत्रिक राज्य की तर्कप्रणाली और भारतीय समाज की संस्थाओं के बीच समायोजन स्थापित करने की कोशिश की है। उदाहरणस्वरूप, जाति व्यवस्था एवं जनतांत्रिक सहभागिता की राजनीतिक प्रक्रियाओं ने सफलतापूर्वक एक-दूसरे के साथ समायोजन स्थापित किया है। आधुनिक चुनावी राजनीति के द्वारा प्रस्तुत दबावों एवं अवसरों का जाति ने समुचित उत्तर दिया है। इसके कारण जातिगत लामबंदी के अनपेक्षित रूपों का उद्गम हुआ है। जाति, क्षेत्र एवं समुदायों के आधार पर लामबंदी (जातिवाद, क्षेत्रवाद एवं सांप्रदायिकता) भारतीय संविधान में वर्णित राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधाओं के रूप में आज भी उपस्थित है।

जाति की राजनीति का संबंध प्रतिपूरक विभेद की नीति से भी है जिसे प्रचलित रूप में आरक्षण नीति के नाम से जाना जाता है। इस नीति से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग व धार्मिक अल्पसंख्यकों को राज्य द्वारा संरक्षित व संचालित अर्थव्यवस्था में लाभ मिलता है। जातिगत समाज में हुए राजनीतिक परिवर्तन राज्य की सोची-समझी नीतियों के परिणाम हैं।

ग्रामीण भारत में क्षेत्रीय स्तर पर उपलब्ध हितों की प्रणाली एवं शक्ति संरचना राजनीतिक निर्णयों में महत्त्वपूर्ण होती हैं। शहरी क्षेत्रों में मतदान व्यवहार में वर्ग की भूमिका स्पष्ट रूप से महत्त्वपूर्ण होती है।

मतदान व्यवहार के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सरकार की नीतियों का व्यक्ति के मतदान व्यवहार पर उतना प्रभाव नहीं होता जितना कि उनके विशेष संबंधों व हितों का होता है। बड़ी संख्या में आज भी भारतीय मतदाता दलों की नीतियों या आदर्शों के स्थान पर अपने हितों के अधार पर ही मतदान करते हैं। दलों व उम्मीदवारों द्वारा मतदाताओं के जातिगत व धार्मिक लगाव को भावनात्मक व अविवेकपूर्ण विचारों से उद्वेलित किया जाता है, ताकि समर्थन एकत्र किया जा सके।

ग्रामीण क्षेत्रों में हुए अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि न तो ज़मींदार और न ही भूमिहीन मज़दूरों द्वारा चुनावों के निर्णय होते हैं, क्योंकि विधेयकों द्वारा ज़मींदारों के वर्चस्व को कम किया जा चुका है जबकि मज़दूर अब भी आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर हैं। मालिक किसान वर्ग (मध्य जातियां) चुनावों में निर्णायक रुचि रखता है। फिर भी निम्न जातियों व आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों की अनदेखी नहीं की जा सकती क्योंकि उनकी संख्या बहुत बड़ी है।

सार्वजनिक क्षेत्र इकाई, हित समूह, समर्थक वर्ग (लॉबी) व श्रमिक संघ

स्वतंत्र भारतीय राज्यों ने न केवल कृषि व उद्योग में विकास बल्कि संसाधनों के पुनर्वितरण की दिशा में भी पहल की है। भारतीय प्रजातंत्र की आर्थिक आधारशिला को दृढ़ करने के लिए उद्योगों के सार्वजनिक स्वरूप पर बल दिया गया। योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास आयोग ने इस कार्य में महती भूमिका निभाई।

स्वतंत्र भारत में राष्ट्र-निर्माण की दो प्रक्रियाएं क्रियाशील रहीं – पहली, सरकारी प्रशासनिक प्रक्रिया जिसका उद्देश्य योजनाबद्ध विकास प्रयत्नों को समन्वित करना रहा तथा दूसरी, जिसमें जनता द्वारा अनेक सामूहिक राजनीतिक गतिविधियां सम्मिलित हैं। समकालीन भारत में सामाजिक हितों का राजनीतिक

स्वरूप स्पष्ट होता है। राजनीतिक रूपों, मूल्यों एवं आदर्शों द्वारा सामाजिक संरचना का राजनीतिकरण किया गया है। अतः राजनीतिक व्यवस्था भारतीय सामाजिक संरचना का प्रमुख उपकरण बन गई है।

किसी भी आर्थिक व्यवस्था में राज्य तीन प्रकार की भूमिकाएं अदा कर सकता है:

- उत्पादन व सेवाओं के उत्पादक के रूप में।
- सार्वजनिक या सामाजिक उपयोग के सामानों या सुविधाओं यथा शिक्षा, स्वास्थ्य, पेय जल आदि उपलब्ध कराने वाले माध्यम के रूप में।
- व्यवस्था के नियामक के रूप में।

प्रारंभिक अवस्था में उपरोक्त प्रथम दो भूमिकाएं महत्त्वपूर्ण रहीं। उदारीकरण के बाद प्रथम दो भूमिकाएं क्रमशः कम महत्त्वपूर्ण होती गईं जबकि तीसरी भूमिका अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रभावशाली हो गई, लेकिन आर्थिक व्यवस्था नियमित करने में कभी-कभी स्वतंत्र प्राधिकारों को माध्यम बनाया जाता है। स्पष्टतः, उदारीकरण, निजीकरण एवं भू-मंडलीकरण के युग में राज्य की भूमिका संकीर्ण व लघुतम हो गई है और उसकी जगह निगम, गैर-सरकारी संगठन व नागरिक समाज संगठनों ने ले ली है। राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण के बदले बाज़ार की शक्तियों की स्वतंत्र व वृहद् भूमिका स्पष्ट दृष्टव्य है, यद्यपि कुछ क्षेत्रों में स्वतंत्र नियंत्रणात्मक सत्ता की व्यवस्था कर बाज़ार की शक्तियों को नियमित किया गया है।

गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

विगत पांच दशकों में भारत में स्वेच्छापूर्वक विकासात्मक प्रयत्नों के रूप में गैर-सरकारी संगठनों द्वारा किए गए प्रयत्न महत्त्वपूर्ण हैं। ये संगठन भारत के सभी क्षेत्रों में समुदायों के साथ कार्य कर विकास की नीतियों व वास्तविकता के बीच की दूरी को कम करने का प्रयत्न करते हैं। इन संगठनों की भूमिका को सरकार ने स्वीकार किया है।

'सेंटर फॉर साइंस एंड इनवायरमेंट (सी.एस.ई.)', 'लोकायाम', 'साथिन', 'सेल्फ इंप्लायड वूमन एसोसिएशन (सेवा SEWA) एवं 'सुलभ इंटरनेशनल' जैसे कुछ प्रमुख गैर-सरकारी संगठनों ने देश के विकास में सराहनीय भूमिका निभाई है।

राज्य के आर्थिक व अन्य प्रकार के निर्णयों को हित समूहों ने प्रभावित किया है। ये समूह आर्थिक, नृजातीय, भाषाई, धार्मिक व अन्य आधारों पर संगठित होते हैं। कभी-कभी ये सत्ताधारी राजनीतिक दल या विपक्ष के दलों पर दबाव डालकर अपनी मांग मनवाते हैं। इस प्रकार हित-समूह एक दबाव-समूह के रूप में क्रियाशील हो सकता है। 'द फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री' (एफ. आई. सी. सी. आई.) एवं 'दि आल इंडिया चैंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री' (ए. आई. एम. ए.) आदि कुछ हित समूह के उदाहरण हैं, जो दबाव-समूह के रूप में भी स्थित हैं। किसानों की भी अपनी लॉबी होती है जो संसद व विधान सभा में उनके हितों को प्रस्तुत करती है।

भारतीय प्रजातंत्र में श्रमिकों के हितों को श्रमिक संघ प्रतिनिधित्व देता है। यह सरकार के निर्णयों पर प्रभाव डालकर श्रमिकों के हितों की सुरक्षा करता है। इसके उदाहरण के रूप में अनेक सामाजिक विधेयक स्वतंत्र भारत में पारित किए गए हैं।

प्रेस

भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप में विचार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी गई है। प्रेस विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। भारत की प्रजातांत्रिक राजनीति में प्रेस एक क्षेत्र रक्षक की तरह सरकार की सभी गतिविधियों पर जनता की तरफ से

नज़र रखता है। आजकल प्रेस एवं जनसंचार के अन्य साधन देश की गतिविधियों के बारे में जनता को अवगत कराते हैं, खासकर यह कि सरकार उनके लिए क्या कर रही है और क्या नहीं। सरकार के किसी भी मनमाने या असंवैधानिक व अलोकहितकारी निर्णय पर पत्र-पत्रिकाएं एवं अखबार नज़र एवं नियंत्रण रखने के साधन के रूप में कार्य करते हैं। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भी प्रेस ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

सामाजिक आंदोलन व राज्य

भारतीय परंपरा में अनेक उदाहरणीय सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों की जानकारी मिलती है जो देश की सामाजिक व धार्मिक स्थिति में परिवर्तन ला सके। स्वतंत्रता आंदोलन के समय में इस परंपरा को और भी शक्ति प्राप्त हुई। भारत की प्रजातांत्रिक राजनीति शांतिमय आंदोलन के लिए समुचित वातावरण प्रदान करती है।

सामाजिक आंदोलन की परिभाषा वैसे सामूहिक प्रयत्न करने के रूप में की जाती है, जो या तो सामाजिक परिवर्तनों को समर्थन देता है या फिर उसका प्रतिरोध करता है। स्वत: स्फूर्ति एवं धारणीयता, उद्देश्य, आदेश, कार्यक्रम, नेतृत्व व संगठन किसी सामाजिक आंदोलन के प्रमुख अवयव हैं। ये अवयव एक-दूसरे पर अंत:निर्भर होते है एवं एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं।

संप्रभु राज्य राजनीतिक व सामाजिक आंदोलनों को प्रारंभ में एक चुनौती की तरह लेता है। राज्य इन आंदोलनों को विभिन्न तरीको से सुलझाने की कोशिश करते हैं। इन तरीकों में संवाद से लेकर संधि तक शामिल है। इनमें वे सभी नेता व आंदोलन शामिल हैं जो राज्य की शक्ति संरचना को चुनौती नहीं देते एवं उन आंदोलनों का दमन भी शामिल है जो राज्य की शक्ति संरचना को चुनौती देते हैं। लेकिन भारत की प्रजातांत्रिक राजनीति इन विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलनों के दमन में शामिल नहीं है। स्पष्टत: सुधारात्मक व जनकल्याणकारी आंदोलनों पर राज्य मित्रतापूर्वक विचार करता है, जबकि आमूल परिवर्तनवादी धारा को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं होता।

स्वतंत्र भारत में किसान आंदोलन, श्रमिक आंदोलन व स्त्री आंदोलन के द्वारा विधि-व्यवस्था को किसान, श्रमिक व स्त्री के हितों में परिवर्तित किया गया है। पर्यावरण भी अनेक समकालीन सामाजिक आंदोलनों के साथ सम्मिलित हो चुका है। इन आंदोलनों के उद्देश्य जनसामान्य तक पहुंच जाते हैं। इसमें विकासात्मक प्रयोजन के निमित्त बांधों व औद्योगिक इकाइयों की स्थापना से उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याएं व जनसामान्य से संबद्ध कठिनाइयां भी आती हैं। इनके प्रमुख उदाहरण वन आधारित संघर्ष 'चिपको आंदोलन' (उत्तरांचल क्षेत्र) और 'अपीको आंदोलन' (पश्चिमी घाट क्षेत्र) हैं।

शब्दावली

प्राधिकार - यह शक्ति का वह स्वरूप है जो उन लोगों द्वारा न्यायसंगत माना जाता है जो इससे प्रभावित होते हैं।

चिपको आंदोलन - यह उत्तरांचल में हुआ एक पर्यावरणीय आंदोलन है।

संप्रभुता - सर्वश्रेष्ठ व स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति या प्राधिकार या राजनीतिक रूप से स्वतंत्र राज्य ।

हरित क्रांति - तत्कालीन तृतीय विश्व के देशों में कृषि के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार का तकनीकी परिवर्तन।

उदारीकरण - यह पश्चिमी प्रजातंत्र की प्रभावशाली विचारधारा है। इसमें राजनीतिक संपूर्णता के विरुद्ध मुक्त बाज़ार की व्यवस्था होती है। इसके अनुसार निजी क्षेत्र व जन क्षेत्र में अंतर कर अधिकारों को परिभाषित किया जाता है।

निजीकरण - यह आर्थिक सुधार की प्रक्रिया है जिसमें उन विशिष्ट क्षेत्रों को निजी अधिकार के लिए मुक्त किया जाता है जो पहले सरकार के एकछत्र नियंत्रण में रहा हो।

शासक वर्ग - एक सामाजिक वर्ग जो उपलब्ध राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा समाज पर नियंत्रण करता है। कुछ समाजों में यह नियंत्रण प्रत्यक्ष हो सकता है जबकि कुछ में परोक्ष।

क्षेत्र - किसी शासक, सरकार या राज्य के अधीन भूमि।

अभ्यास

1. राजनीतिक संस्था से आप क्या समझते हैं?
2. शक्ति क्या है? स्पष्ट कीजिए।
3. राज्य के आवश्यक तत्त्व कौन-कौन से हैं?
4. जाति के राजनीतिकरण से आप क्या समझते हैं?
5. भारतीय समाज में राज्य की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- ब्रास, पॉल, ***पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सिंस इंडीपेंडेंस,*** केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, केंब्रिज, 1990
- फ्रैंकेल, एफ. आर. एवं अन्य, (सं.), ***ट्रांसफार्मिंग इंडिया,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2002
- गुप्ता, दीपांकर, ***पॉलिटिकल सोशियोलॉजी इन इंडिया, कंटेंपरेरी ट्रेंड्स,*** ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1996
- कोठारी, रजनी, ***पॉलिटिक्स इन इंडिया,*** ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1982
- कविराज, सुदीप्तए ***पॉलिटिक्स इन इंडिया,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2002
- उम्मन, टी.के., ***प्रोटेस्ट एंड चेंज : स्टडीज़ इन सोशल मूवमेंट्स,*** सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली, 1990
- शाह, घनश्याम, (सं.), ***सोशल मूवमेंट्स एंड स्टेट,*** सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2002

अध्याय 10

भारत में वंचित समूह

भूमिका

ऐतिहासिक रूप से प्रत्येक समाज में कुछ समूह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा शैक्षणिक दृष्टिकोण से वंचित पाए जाते हैं। भारतीय समाज में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग और महिलाएं इन समूहों के अंतर्गत आते हैं। स्वाधीन भारत में आर्थिक एवं राजनीतिक सशक्तीकरण की दृष्टि से धार्मिक अल्पसंख्यकों को भी कमजोरों की श्रेणी में रखा जाता है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 46 राज्य को यह निर्देश देता है कि पिछड़े नागरिकों के और विशेष रूप से अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आर्थिक और शैक्षणिक हितों को बढ़ावा दें। संविधान अल्पसंख्यकों को कुछ विशेष अधिकार भी देता है, जैसे अल्पसंख्यक समूह की विशिष्ट भाषा, लिपि, संस्कृति के संरक्षण का अधिकार और समूह के पसंदीदा शैक्षणिक संस्थानों को स्थापित करने एवं चलाने का विशेष अधिकार (अनुच्छेद 29 और 30)।

भारत में पिछड़े वर्ग के लोगों को विशेष सुविधा देने की व्यवस्था है जिसे क्षतिपूर्ति विभेद नीति (कॉम्पनसेटरी डिस्क्रिमिनेशन) के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार समानता एवं योग्यता के नियमों से हटकर समूहों में विभेद किया जाता है। इसे निम्नांकित आधारों पर देखा जा सकता है :

1. विशेष व्यवहार के द्वारा अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म विभेद समाप्त किया जाना।
2. इसके अच्छे परिणाम के रूप में निम्न बातें हो सकती हैं, जैसे सामाजिक एकीकरण, उपेक्षित प्रतिभाओं को मुख्यधारा में लाना एवं शक्ति व स्रोतों का समान वितरण आदि।
3. एक लंबे समय से हो रहे वंचन को कम करने के लिए प्रयत्न किया जाना।

स्वाधीन भारत में क्षतिपूर्ति विभेद नीति को प्रकट रूप में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्गों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों के लिए स्वीकार किया गया है। क्षतिपूर्ति विभेद नीति अपनी पहुंच और संभावनाओं के आधार पर विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का ध्यान आकर्षित करती है। यह नीति वंचित समूहों की आवश्यकताओं का ध्यान रखने में कुछ हद तक सफल रही है, लेकिन इससे उन सामाजिक समूहों के बीच तनाव की स्थिति भी बनी है जिनमें कुछ ने आरक्षण का लाभ लिया है और कुछ ने नहीं लिया है।

समाजशास्त्रीय रूप से, क्षतिपूर्ति विभेद नीति का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है – यह एक प्रावधान है जिसके तहत सब के लिए समान अवसरों के अतिरिक्त कुछ के लिए विशेष अवसरों का प्रावधान किया जाता है। स्पष्टतः इस नीति के उपरोक्त दोनों पक्षों में सबके लिए समान अवसर

और कुछ के लिए विशेष अवसर के बीच तनाव उत्पन्न होता है। इन दोनों पक्षों के बीच संतुलन होने पर सामाजिक विषमता को कम करने में सफलता मिल सकती है।

पिछड़े वर्ग

समाज के सभी कमजोर समूहों का वर्णन करने के लिए 'पिछड़े वर्ग' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्ग आते हैं। अब हम इन सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे।

अनुसूचित जाति

सन 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या 13.82 करोड़ है। वे देश की संपूर्ण जनसंख्या का 16.48 प्रतिशत भाग हैं। सामाजिक रूप से पिछड़े समूहों का सशक्तीकरण भारत सरकार की कार्यसूची में महत्त्वपूर्ण स्थान पर है। अनुसूचित जातियों के लिए विशेष केंद्रीय सहायता का प्रावधान है।

जाति भारतीय समाज का सर्वव्यापक स्वरूप है। अनुसूचित जाति को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। जाति व्यवस्था में व्याप्त संस्थापित असमानता अनुसूचित जातियों में सबसे स्पष्ट रूप में दिखाई देती है, जो बिल्कुल अलग-थलग होती है। जाति संस्तरण में धार्मिक अशुद्धता के आधार पर अनुसूचित जाति सबसे नीचे आती है। यह तकनीकी रूप से चतुर्वर्णी व्यवस्था के बाहर होती है। इन जातियों पर अधिक से अधिक आनुष्ठानिक और सामाजिक अशुद्धियां आरोपित की जाती थीं। इनके व्यवसायों को संस्तरण में सबसे नीचे रखा जाता है और ये गांवों और शहरों में पृथक क्षेत्रों में निवास करते रहे हैं।

अनुसूचित जाति एक राजनीतिक-न्यायिक शब्द है, जिसका प्रथम उपयोग 'साइमन कमीशन' और भारत सरकार ने 1935 में किया। स्वाधीन भारत में इस पारिभाषिक शब्द को संविधान में प्रयोग किया गया ताकि क्षतिपूर्ति विभेद की नीति के तहत अनुसूचित जातियों के लिए विशेष सुविधाओं का प्रावधान किया जा सके। गांधी जी ने उन्हें नया नाम दिया था – हरिजन या ईश्वर की संतान, लेकिन उनके बीच आमूल परिवर्तनवादी तत्त्वों ने स्वयं को 'दलित' नाम दिया।

दलित से उन अछूत समुदायों का बोध होता है जो आधिकारिक रूप से अनुसूचित जाति के हैं। दलित एक मराठी शब्द है जिसका सामान्यत: अर्थ होता है टुकड़ों में टूटा हुआ। ज्योतिबा फुले, डा. अंबेडकर और 'दलित पैंथर्स आंदोलन' को सत्तर के दशक में इस शब्द को प्रचलित करने का श्रेय जाता है।

अनुसूचित जाति की समस्याएं

अधिकांश दलित सामाजिक रूप से पिछड़े, गरीब और मूलभूत आवश्यक सुविधाओं से वंचित हैं। पर्याप्त भोजन, स्वास्थ्य सुविधाएं, वस्त्र व आवास इनकी पहुंच से बाहर हैं। इससे भी बढ़कर, इनकी अशिक्षा का कारण जातिगत असमानता है। यद्यपि पारंपरिक व्यवसाय क्रमशः समाप्त होते जा रहे हैं, फिर भी दलित बहुतायत में उन व्यवसायों में लगे हैं जिससे उनकी सामाजिक स्थिति निम्न मानी जाती है और सामाजिक गतिशीलता भी धीमी हो जाती है। गत वर्षों में जातिगत हिंसा में नाटकीय वृद्धि हुई है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने जहां एक ओर पारंपरिक जातिगत व्यवसायों को कमजोर किया है, वहीं दूसरी ओर मज़बूत भी किया है। संवैधानिक सुनिश्चितताओं और अधिकारिक आदेशों के बावजूद अस्पृश्यता एवं बहिष्कार अभी भी जारी है।

अनुसूचित जाति सजातीय समूह नहीं है। यह आंतरिक रूप से व्यवसाय, भौगोलिक विस्तार तथा

धार्मिक संस्तरण के आधार पर विभेदित है। लेकिन अनुसूचित जाति एक समूह के रूप में अन्य जातियों से अस्पृश्यता के आधार पर पृथक है। वे धार्मिक स्तर पर अशुद्ध माने जाते हैं। उन पर अनेक सामाजिक प्रतिबंध लगे होते हैं तथा वे सामाजिक अपंगता के शिकार भी हुए हैं।

संविधान के प्रभाव में आने के 52 वर्षों के बाद तथा 50 वर्ष के नियोजन के पश्चात भी अस्पृश्यता और उससे संबद्ध विसंगतियां अस्तित्व में हैं। ग्रामीण भारत में इसके ज्वलंत उदाहरण मिलते हैं। गांवों में अनुसूचित जातियों के अधिकांश लोग कष्ट झेल रहे हैं, क्योंकि वे प्रभु जातियों एवं भूस्वामियों के अधीन काम करते हैं। आर्थिक रूप से भूस्वामियों पर निर्भर होने के कारण कई प्रकार से इनका शोषण होता रहा है। इसलिए भारत में अनुसूचित जाति की स्थिति में सुधार के लिए अनेक उपाय सुझाए गए हैं।

अनुसूचित जाति के लिए संवैधानिक प्रावधान

संविधान में अनुसूचित जातियों को सुरक्षा और विशेष सुविधाएं देने का प्रावधान है। सरकार अनुसूचित जाति के लिए एक आयुक्त नियुक्त कर उनकी शिकायतों और प्रतिकूल स्थिति का जायजा लेती है। आयुक्त द्वारा दी गई वार्षिक रिपोर्ट संसद में प्रस्तुत की जाती है। अनुसूचित जातियों के लिए भारत सरकार द्वारा किए गए उपाय निम्नलिखित हैं :

1. अस्पृश्यता का उन्मूलन।
2. सामाजिक अन्याय व विभिन्न प्रकार के शोषण से सुरक्षा।
3. जन साधारण के लिए स्थित धार्मिक संस्थानों को अनुसूचित जातियों के लिए सुलभ करवाना।
4. कुएं, तालाबों, दुकानों, रेस्तरां और सड़कों आदि पर अनुसूचित जातियों के जाने पर लगे प्रतिबंधों को हटाना।
5. शैक्षणिक संस्थानों में नामांकन के लिए विशेष सुविधा देना।
6. शिक्षा के लिए विशेष लाभ और आर्थिक सहयोग उपलब्ध कराना।
7. सरकारी सेवाओं में भर्ती व पदोन्नति में विशेष प्रावधान।
8. लोकसभा व विधान सभाओं तथा पंचायती राज संस्थाओं में विशेष प्रतिनिधित्व का प्रावधान।
9. उनके कल्याण तथा हितों को सुरक्षित करने के लिए एक अलग विभाग एवं सलाहकार परिषद् के गठन का प्रावधान।

वर्तमान स्थिति : अनुसूचित जाति अब भी भारतीय समाज की मुख्यधारा से पूर्णतः एकीकृत नहीं हो पाई है। संवैधानिक और विकासात्मक प्रावधानों के बावजूद अनुसूचित जातियों का छोटा-सा भाग ही लाभान्वित हो पाया है। वस्तुतः विशेष प्रावधानों और आरक्षणों से इनमें एक अभिजात वर्ग का उदय हुआ है। अतएव कल्याणकारी योजनाओं को आंशिक सफलता ही मिल पाई है।

अनुसूचित जनजाति

सन 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या 6.7 करोड़ है जो कुल भारतीय जनसंख्या का 8.28 प्रतिशत है। भारत में छत्तीसगढ़, झारखंड, महाराष्ट्र, उड़ीसा, गुजरात, मध्य प्रदेश में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या अधिक है, इसके अतिरिक्त उत्तर-पूर्वी राज्यों में ये बहुसंख्यक समुदाय के रूप में पाई जाती हैं। कुछ राज्यों, जैसे-गोवा, हरियाणा, पंजाब और दिल्ली में जनजातीय जनसंख्या की सूचना नहीं है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 341 और 342 के प्रावधानों के तहत राष्ट्रपति के आदेशों द्वारा अनुसूचित जनजातियों की पहचान की जाती है।

भारतीय संविधान ने जनजाति को परिभाषित नहीं किया है। इनकी पहचान एवं व्याख्या केवल राष्ट्रपति के आदेशों द्वारा होती है जो संबंधित राज्यों के राज्यपालों के सुझावों पर आधारित होती है।

उन्नत कृषि एवं औद्योगिक समाज की तुलना में जनजातियों में अलग तरह की सामाजिक विभिन्नताएं होती हैं। उनके बीच आयु, लिंग और नातेदारी के आधार पर श्रेणियां एवं असमानताएं होती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न जनजातीय समूहों को भाषा, धर्म, पृथकता की मात्रा और उनकी जीवन शैली के आधार पर भी विभाजित किया जा सकता है। जनजातियों की ये विशेषताएं प्राय: अपने क्षेत्र के गैर-जनजातीय लोगों से मिलती-जुलती हैं, जबकि दूसरे क्षेत्रों की समान जनजाति से कोई समानता नहीं होती। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, अनुसूचित जातियों की सामाजिक निर्योग्यता उनकी धार्मिक अशुद्धि के कारण होती है, जबकि अनुसूचित जनजातियों में इसकी वजह स्थिति की पृथकता एवं उससे जुड़ा सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक पृथक्करण है।

अनुसूचित जनजातियों की कुछ विशेष समस्याएं निम्नलिखित हैं :

1. **ऋणग्रस्तता :** ऋणग्रस्तता संभवत: इनकी विकटतम समस्या है जिसका ये लोग सामना करते हैं। ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण है गरीबी, ज़मीन और जंगलों पर जनजातीय अधिकार समाप्त होना एवं कृषि का पुरातन तरीका। इसके न सिर्फ आर्थिक बल्कि सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आयाम भी हैं।
2. **भूमि अलगाव :** कृषि जनजातियों का प्राथमिक व्यवसाय है। लगभग 88 प्रतिशत जनजातियां खेती करती हैं। इसके अलावा उनका अपनी ज़मीन से भावनात्मक संबंध भी होता है। ज़मीन से अलगाव का प्रमुख कारण जनजातियों की ऋणग्रस्तता होती है। उनकी अज्ञानता के कारण दुकानदार व ऋणदाता महाजन उनका शोषण करते हैं। इस प्रकार उनकी दरिद्रता बढ़ती चली जाती है। गैर-जनजातीय लोग जनजातीय ज़मीनों पर विभिन्न युक्तियों से अधिकार कर लेते हैं, जैसे – न्यायालय में जाने की धमकी देकर, तुरंत लाभ का लोभ देकर आदि।
3. **गरीबी और बेरोज़गारी :** जनजातीय क्षेत्रों में अदूरदर्शी योजनाओं के कारण गहन दरिद्रता की स्थिति उत्पन्न होती है। वर्ष 1983-84 में ग्रामीण जनजातीय लोगों में गरीबी रेखा से नीचे 58.4 प्रतिशत लोग थे, जबकि शहरी क्षेत्र में ये प्रतिशत 39.9 था। गरीबी के अलावा बेरोज़गारी भी गंभीर समस्या है। रोज़गारोन्मुखी योजना के रूप में 'जवाहर रोज़गार योजना' 1989 से चल रही है। इस योजना के मुख्य उद्देश्यों में लाभदायक रोज़गार उत्पादन, सामुदायिक संपत्ति का निर्माण करना और ग्राम्य जीवन की गुणवत्ता में सर्वांगीण विकास लाना है। इस योजना में अनुसूचित जाति या जनजाति के लिए रोज़गार में वरीयता का भी प्रावधान है।
4. **मद्यपान :** मद्यपान जनजातीय समाज में प्राचीन समय से चला आ रहा है। स्वाधीन भारत में जनजातीय क्षेत्रों में उनके पारंपरिक पेय के अलावा लघु स्तर पर निर्मित शराब का भी प्रवेश हुआ। इस प्रकार असामाजिक तत्वों का देश के अन्य क्षेत्रों से जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश हुआ। मद्य-विक्रय की दुकानें इस प्रक्रिया में सहयोग करती हैं। वे सभी अवांछित गतिविधियों में लगे रहते हैं। मद्यपान भी उनकी गरीबी, ऋणग्रस्तता, अलगाव एवं स्वास्थ्य के जोखिम का मुख्य कारक है।

5. **अन्य समस्याएं :** भारत के जनजातीय लोग कुछ अन्य समस्याओं का भी सामना करते हैं, जैसे निरक्षरता, आवासीय समस्या, संचार एवं यातायात के साधन, औद्योगीकरण, शहरीकरण, आप्रवास एवं उनकी जनसंख्या का कम होना। कुछ जनजातियों में जनसंख्या का कम होना एक प्रबल समस्या है, जिसके मुख्य कारण हैं पारिस्थितिकी में आमूल चूल परिवर्तन एवं मनुष्य-प्रकृति संबंध में असंतुलन। साथ ही अमानवीय वन-नीति और इसके क्रूर क्रियान्वयन में भी विरोधाभास की स्थिति बनी है, जिसके फलस्वरूप बड़ी जनजातियों की जनसंख्या में वृद्धि हुई है और छोटी जनजातियों के लुप्त होने के उदाहरण मिलते हैं।

अनुसूचित जनजातियों के लिए संवैधानिक प्रावधान

संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' शब्द को कहीं भी स्पष्टत: परिभाषित नहीं किया गया है। अनुच्छेद 342 के तहत राष्ट्रपति को किसी जनजाति को अनुसूचित जनजाति घोषित करने का अधिकार प्राप्त है। अनुसूचित जनजातियों के लिए दो प्रकार के प्रावधान हैं - एक उनके संरक्षण से संबंधित तथा दूसरा जनजातीय विकास से संबंधित।

1. जनजातियों की शिक्षा के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। इसके अंतर्गत शैक्षिक संस्थानों में आरक्षण तथा नामांकन हेतु आवश्यक शर्तों में छूट, छात्रवृत्ति आदि आते हैं।
2. नौकरियों में पदों का आरक्षण।
3. संपत्ति में जनजातीय हितों की सुरक्षा।
4. जनजातियों के आर्थिक व शैक्षणिक हितों में सहयोग और सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण से सुरक्षा के निर्देश राज्यों को दिए गए हैं।
5. लोकसभा, विधानसभा तथा पंचायती राज संस्थाओं में स्थानों का आरक्षण।
6. भूमि पर पारंपरिक अधिकारों की मान्यता एवं भूमि अलगाव से वैधानिक सुरक्षा।
7. राष्ट्रपति कभी भी आयोग का गठन कर अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन एवं राज्यों में अनुसूचित जनजाति के कल्याण का जायज़ा ले सकते हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात जनजातियों की स्थिति में सुधार के लिए विभिन्न रूपों में अनेक प्रयत्न किए गए हैं, जैसे (1) जनजातियों में भूमि वितरण एवं विकास, (2) विकसित कृषि उपक्रमों, बीजों, खाद आदि का वितरण एवं अन्य कृषि सुविधाओं का प्रबंध तथा (3) ऋणदाताओं, महाजनों से उनकी सुरक्षा।

जनजातीय मामलों के मंत्रालय का गठन सन 1999 से किया गया ताकि देश की जनजातीय जनसंख्या की ज़रूरतों को विशेष रूप से पूरा किया जाए।

अन्य पिछड़े वर्ग

अन्य पिछड़े वर्ग में गैर-दलित निम्न और मध्यवर्ती जातियां आती हैं जो पारंपरिक व्यवसायों जैसे कृषि, पशुपालन, हस्त-कला शिल्प और पेशेगत सेवाओं में संलग्न रहे हैं। पिछड़ेपन का निर्धारण ज़ातिगत-स्थिति व व्यवसाय के आधार पर किया जाता है। ये वर्ग तथाकथित दलितों से ऊपर और द्विज जातियों से नीचे माने जाते हैं। इनकी संरचनात्मक स्थिति और इनके लिए प्रावधानों में अस्पष्टता है। 'मंडल आयोग' के संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया कि अनुच्छेद 16(4) में उच्चारित पिछड़ापन मुख्यत: सामाजिक है। यह जरूरी नहीं कि ये सामाजिक व शैक्षणिक दोनो हों।

अन्य पिछड़े वर्ग सजातीय श्रेणी नहीं है। इसके अनेक भाग हैं। आंद्रे बेतेई के विचारों में

कृषक जाति अन्य पिछड़े वर्गों के केंद्र में है। इस श्रेणी का महत्त्व केवल इसके आकार व विस्तार से नहीं बल्कि विशिष्ट भारतीय पद्धति से इसे परिभाषित करने की इसकी सीमाओं से भी जुड़ा है। भारत में पिछड़ापन व्यक्तियों की नहीं बल्कि समुदायों की विशेषता है जो अपनी प्रकृति के अनुसार स्वसंचालित होती रहती हैं। पिछड़े वर्ग नहीं है बल्कि समुदायों के समूह हैं। इनके अंतर्गत बड़ी संख्या में व्यक्तियों की मिश्रित श्रेणियां आती हैं जो असंबद्ध एवं लचीली होती हैं। अत: अन्य पिछड़े वर्ग अवशिष्ट एवं अत्यधिक अस्पष्ट श्रेणी है।

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए प्रावधान

अन्य पिछड़े वर्ग भारत की कुल जनसंख्या का 51 प्रतिशत हैं। संविधान में इनकी परिभाषा नहीं की गई है। अनुच्छेद 340 के अनुसार आयोग का गठन कर अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति की जांच की जा सकती है। सर्वप्रथम अन्य पिछड़े वर्गों का आयोग 1953 में गठित हुआ था जिसके अध्यक्ष काका साहब कालेलकर थे। इससे पता चलता है कि राष्ट्र इन वर्गों के सशक्तीकरण में सहायता देने के लिए प्रतिबद्ध रहा है। इस आयोग के विचारों में ये वर्ग बिना सहायता के सशक्त नहीं हो सकते हैं।

'काका कालेलकर आयोग' ने अन्य पिछड़े वर्गों में 2,399 जातियों (भारतीय जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत) को शामिल किया। इस रिपोर्ट में विकास के लिए अनेक सुझाव दिए गए। जाति स्पष्टत: इन वर्गों की सूची बनाने में मुख्य तत्त्व के रूप में ली जाती है। इन पिछड़ी जातियों को प्रथम श्रेणी की सेवाओं में 25 प्रतिशत द्वितीय श्रेणी की सेवाओं में 33.5 प्रतिशत और तृतीय व चतुर्थ श्रेणी में 40 प्रतिशत आरक्षण देने का प्रस्ताव रखा गया। आयोग के सुझाव स्पष्ट करते हैं कि भारत में यथार्थमूलक सामाजिक समानता के लिए जाति विशिष्टता व सामाजिक विभेद को समाप्त करना अपरिहार्य है।

इन वर्गों के लिए आरक्षण को अधिकांशत: राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा गया है, न कि कल्याणकारी दृष्टिकोण से। वोट बैंक की राजनीति के तहत अधिकाधिक जातियों को इस वर्ग में संलग्न करने के लिए दबाव डाले जाते रहे हैं। 'मंडल आयोग' के परामर्श पर वी. पी. सिंह सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा की थी। मंडल आयोग की रिपोर्ट पर सर्वोच्च न्यायालय ने 1992 में निर्णय दिया जिसकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं:

1. आरक्षण के लाभार्थियों की पहचान के लिए जाति को आधार बनाया गया।
2. आरक्षण की उच्च सीमा 50 प्रतिशत निर्धारित की गई।
3. पिछड़े वर्ग में समृद्ध (क्रीमी लेयर) लोगों को आरक्षण की सुविधा नहीं दी गई।
4. कुछ तकनीकी पदों के लिए आरक्षण नहीं दिया गया।
5. पदोन्नति में आरक्षण नहीं दिया गया।
6. संघ सरकार को सामाजिक-आर्थिक मानदंडों का चयन कर पिछड़े वर्गों में समृद्ध लोगों की पहचान करने का उत्तरदायित्व दिया गया।
7. संघ व राज्य सरकारों द्वारा न्यायिक अधिकरण का गठन कर इस वर्ग में जातियों को शामिल करने व न करने संबंधी शिकायतों की जांच की जा सकती है।

वर्तमान स्थिति में प्राय: सभी राज्यों में अन्य पिछड़े वर्गों को दो समूहों में विभाजित किया गया। इनमें संलग्नक-1 में समृद्ध समूह आता है, शेष संलग्नक-2 में आते हैं।

सहायता के एक और रूप में भारत सरकार ने 1992 में 'राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त व विकास निगम' की

स्थापना की। इसका उद्देश्य गरीबी की रेखा से नीचे के पिछड़े वर्गों के सदस्यों को आमदनी की गतिविधियां शुरू करने के लिए वित्तीय सहयोग देना है।

नीतियों का मूल्यांकन

क्षतिपूर्ति विभेदक नीति के अंतर्गत अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों को दी जाने वाली सुविधाओं के बीच समाजशास्त्रियों ने अंतर किया है। अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति भारतीय समाज में आसानी से पहचानी जा सकती हैं, लेकिन अन्य पिछड़े वर्गों की पहचान अब भी आसान नहीं। इस वर्ग में विभिन्न समूह आते हैं और इनसे संबंधित नीतियां राज्यों में भिन्न-भिन्न हैं। कई राज्यों में मुस्लिमों को भी इस वर्ग के अंतर्गत रखा गया है।

अन्य पिछड़े वर्गों के पक्ष में क्षतिपूर्ति भेदभाव पर आधारित सुविधाओं की कुछ विशिष्टताएं निम्नलिखित हैं :

1. देश के विभिन्न भागों में इस वर्ग की एक समान परिभाषा नहीं की गई है। इस वर्ग की प्रगति के लिए अपनाई गई मुख्य युक्तियों में शिक्षण संस्थानों में आरक्षण आता है। मुख्य रूप से व्यावसायिक व तकनीकी महाविद्यालयों में एवं सरकारी नौकरियों में।
2. अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण का मुख्य उद्देश्य सामाजिक समानता के लक्ष्य की प्राप्ति है।
3. अन्य पिछड़े वर्गों की सामाजिक स्थिति अनुसूचित जाति व जनजाति से भिन्न है। हरिजनों व आदिवासियों को अलगाव व सामाजिक पृथकता का शिकार होना पड़ा है। इस तरह की गंभीर विडंबनाओं का अन्य पिछड़े वर्गों ने सामना नहीं किया है।

अल्पसंख्यक

अल्पसंख्यकों की स्पष्ट परिभाषा करना कठिन है। अल्पसंख्यक से तात्पर्य उन अपेक्षाकृत छोटे समूह के लोगों से है जिन्हें बहुसंख्यकों के द्वारा शासित या फिर उन पर शासन करने का प्रयास किया जाता है। ये तथ्य अब स्वीकृत है कि जनसंख्या का आकार ही अल्पसंख्यकों का लक्षण नहीं है। वह समूह अल्पसंख्यक माने जा सकते हैं जिनके साथ धर्म, प्रजाति या संस्कृति के आधार पर भेदभाव का व्यवहार किया जाता है। सामाजिक विज्ञान के अंतर्राष्ट्रीय विश्वकोष द्वारा अल्पसंख्यकों की परिभाषा ऐसे समूहों के रूप में की जाती है जो नकारात्मक अर्थों में धर्म, प्रजाति, राष्ट्रीयता, भाषा के आधार पर समाज के अन्य समूहों से अलग माने जाते हैं।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक शब्द का उपयोग किया गया है, लेकिन कहीं भी इसकी परिभाषा नहीं दी गई है। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय इस संदर्भ में सांख्यिकीय मानदंडों पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार जिस समुदाय की जनसंख्या राज्य के 50 प्रतिशत से ज्यादा नहीं हो, अल्पसंख्यक मानी जाती है। भारतीय संविधान में दो प्रकार के अल्पसंख्यक हैं - एक, जो भाषा पर आधारित हैं और दूसरे, जो धर्म पर आधारित हैं। सन 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या में 82.41 प्रतिशत हिंदू हैं, इसके बाद क्रमशः मुसलमान (11.67 प्रतिशत), ईसाई 2.32 प्रतिशत), सिक्ख (1.99 प्रतिशत), बौद्ध (0.77 प्रतिशत), जैन (0.41 प्रतिशत), और अन्य (0.43 प्रतिशत) आते हैं।

अल्पसंख्यक समूह अपने कुछ समान लक्षणों के आधार पर एकजुट होते हैं। अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टताओं के संरक्षण की इच्छा एक अल्पसंख्यक समुदाय का अनिवार्य लक्षण होता है। इ- समूहों के बीच संगठित होने की प्रवृत्ति का आध

इनकी समान भौतिक परंपरा, भाषा, धार्मिक मत और एक ही वंश से संबंध या फिर इन सब का मिश्रण हो सकता है। उदाहरणस्वरूप भारतीय मुसलमान अपने धर्म के आधार पर हिंदू बहुसंख्यकों से तुलना की दृष्टि से अल्पसंख्यक समूह माने जाते हैं। लेकिन जम्मू और कश्मीर में मुसलमान बहुसंख्यक समूह के रूप में हैं। पृथक पहचान की आकांक्षा प्राय: राजनीतिक मांग के रूप में अल्पसंख्यकों द्वारा होती है।

अल्पसंख्यकों का योगदान

यदि भारत में सांस्कृतिक विविधता नहीं होती तो संभवत: उसकी वर्तमान विशिष्टताएं नहीं होतीं। इस विविधता में अल्पसंख्यक समुदायों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतंत्रता आंदोलन में भी इनकी स्पष्ट भूमिका रही है, संक्षेप में इनके योगदान निम्नलिखित हैं: राजनीतिक क्षेत्र में विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र के राष्ट्रपति से लेकर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तक विभिन्न पदों को अल्पसंख्यकों ने प्राप्त किया है।

- राजनीतिक क्षेत्र में विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र के राष्ट्रपति से लेकर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तक विभिन्न पदों को अल्पसंख्यकों ने प्राप्त किया है।
- पंजाब जो सिक्ख बहुल राज्य है, हरित क्रांति को सफल करने में व गेहूं के अधिकतम उत्पादन में अग्रणी रहा है।
- सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अल्पसंख्यकों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उर्दू इसका सबसे प्रमुख उदाहरण है। उर्दू भाषा द्वारा हिंदू एवं इस्लाम धर्म की उत्तम सांस्कृतिक परंपराओं को आत्मसात किया गया है।
- अनेक मुस्लिम, ईसाई व अन्य अल्पसंख्यक समुदायों ने भी भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध करने में अपना योगदान दिया है। शास्त्रीय संगीत, नृत्य व सिनेमा में भी इनके महत्त्वपूर्ण योगदान देखे जा सकते हैं।
- भारतीय विज्ञान, पत्रकारिता व खेलों में भी इनकी समृद्धिजनक उपस्थिति देखी जा सकती है।
- देश के औद्योगीकरण में पारसी समुदाय के लोगों की भूमिका उल्लेखनीय है।
- राष्ट्रीय हितों के संवर्धन में अल्पसंख्यक समुदायों ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार उत्कृष्ट भूमिका निभाई है।

अल्पसंख्यकों के लिए संवैधानिक प्रावधान

संविधान में अल्पसंख्यकों के लिए अनेक अधिकारों का प्रावधान है। इसके पीछे यह तर्क है कि बहुसंख्यक अपनी संख्या के बल पर अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। लेकिन अल्पसंख्यकों को अतिरिक्त सहायता की ज़रूरत होती है। संविधान में इनके लिए निम्नलिखित अधिकार सुनिश्चित किए गए हैं :

1. अनुच्छेद 29 (1) के अंतर्गत राज्यों को निर्देश दिया जाता है कि जो समुदाय अपनी संस्कृति का संरक्षण करना चाहते हैं उन पर राज्य द्वारा बहुसंख्यक लोगों की संस्कृति थोपी नहीं जा सकती है। यह प्रावधान धार्मिक अल्पसंख्यक व भाषाई अल्पसंख्यक दोनों के लिए है।
2. अनुच्छेद 350 (ए) राज्यों को निर्देश देता है कि भाषाई अल्पसंख्यकों के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में ही दी जाए।
3. अनुच्छेद 350 (बी) यह प्रावधान करता है कि भाषाई अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए विशेष पदाधिकारियों की नियुक्ति कर उनकी शिकायतों की जांच की जाए। संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार शिक्षण संस्थानों में नामांकन के लिए धर्म, प्रजाति, जाति या भाषा के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाए।

4. अनुच्छेद 300 (1) अल्पसंख्यकों के मूलभूत अधिकार को तय करता है जिसके अंतर्गत वे अपनी पसंद के शिक्षण संस्थान स्थापित कर सकते हैं एवं चला सकते हैं। उनकी संपत्ति पर बिना क्षति-पूर्ति के राज्य का अतिक्रमण अवांछित है। राज्य शिक्षण संस्थानों को सहायता देने के मामले में अल्पसंख्यक संस्थानों के साथ भेदभाव नहीं कर सकता, चाहे वे संस्थाएं धर्म या भाषा के आधार पर ही क्यों न हों। सर्वोच्च न्यायालय ने 1964 में अल्पसंख्यकों के अधिकार का अनुमोदन किया जिसके अनुसार वे अपने विद्यालयों में शिक्षा के माध्यम का चुनाव स्वेच्छा से कर सकते हैं।

सरकार ने पांच समुदायों जैसे मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध और पारसी को राष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक के रूप में मान्यता दी है। सन 1978 में 'अल्पसंख्यक आयोग' का गठन किया गया जिसका उद्देश्य संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों के संरक्षण के प्रावधानों के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करना व सुझाव देना था। सन 1993 में 'अल्पसंख्यक आयोग' की जगह 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग' प्रभाव में आया। इसके अंतर्गत 15 सूत्रीय कार्यक्रम क्रियान्वित कर अल्पसंख्यकों के कल्याणार्थ प्रयत्न प्रारंभ हुए। इसका लक्ष्य अल्पसंख्यकों के जीवन व संपत्ति की सुरक्षा करना है। यह सार्वजनिक-रोज़गार में भी अल्पसंख्यकों को सुविधा देने का विचार करता है और इस प्रकार विकासात्मक कार्यक्रमों एवं वित्तीय लाभ देने में भेदभावमूलक व्यवहार को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त सरकार ने एक 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यक विकास व वित्त निगम' की भी स्थापना की जो अल्पसंख्यकों में पिछड़े लोगों की आर्थिक व विकासात्मक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के लिए वित्तीय सहयोग देने का प्रावधान करता है।

अनेक सरकारी व गैर-सरकारी प्रयत्नों के बावजूद अल्पसंख्यकों का एक बड़ा हिस्सा अब भी पिछड़ा हुआ है। महाद्वीपीय आयामों वाले हमारे देश में, अब भी अधिकांश अल्पसंख्यक निरक्षर व वंचित समूह के रूप में हैं। औद्योगिक व तकनीकी विकास का लाभ केवल बहुसंख्यकों तक ही नहीं बल्कि अल्पसंख्यकों तक भी पहुंचाने की आवश्यकता है। आशा है कि अब आर्थिक अवसरों के माध्यम से उनमें आत्मविश्वास और नए दृष्टिकोण का उदय होगा। औद्योगिक व तकनीकी विकास एवं शैक्षणिक विकास से राष्ट्रीय एकीकरण में प्रभावशाली सहयोग मिल सकता है। वैधानिक व्यवस्था व सामाजिक सहयोग इस प्रक्रिया में गति लाएंगे और अल्पसंख्यक राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल हो सकेंगे।

महिलाएं

भारत सन 1947 में स्वतंत्र हुआ और सन 1950 में न्याय, स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व आधारित प्रजातांत्रिक समाज के निर्माण की घोषणा हुई, लेकिन स्वतंत्रता के 55 वर्षों के बाद भी स्त्रियां भारतीय समाज में सबसे कमज़ोर एवं हाशिए पर स्थित वर्ग में आती हैं। स्त्रियों की असुरक्षा व उनके प्रति असमानता का बोध सभी हिस्सों जैसे आर्थिक, सामाजिक, जनांकिकीय, स्वास्थ्य, पोषण आदि में होता है और अनेक सामाजिक व आर्थिक तथ्य इस की पुष्टि करते हैं। समाज में महिलाओं के लिए सम्मान की स्थिति में ह्रास का प्रमाण उनके विरुद्ध बढ़ रही हिंसा व अपराध की घटनाओं से मिलता है। उनकी शक्तिहीनता का अनुमान बलात्कार, दहेज, लिंग अनुपात, पत्नी के शारीरिक उत्पीड़न व स्त्री-भ्रूण हत्या जैसी हिंसा की घटनाओं से लगाया जा सकता है महिलाएं अपने ही परिवार में निम्न स्थिति में मानी जाती हैं और उनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। उनका उत्पीड़न व शोषण [illegible]

व वर्ग के भेद के परे देखा जा सकता है। यहां तक कि नव-समृद्ध परिवारों में भी स्त्रियां पुरुषों के अधीन होती हैं। ऐसे परिवारों में उनकी दोहरी पहचान होती है, जैसे एक पहचान परिवार में पुरुषों के अधीन और दूसरी परिवार से बाहर। वैवाहिक स्थिति एवं जनन क्षमता उन्हें एक अन्य पहचान देती हैं। विवाहित स्त्रियां मातृत्व प्राप्त करने के बाद एक अलग प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं, विशेषकर पुत्र प्राप्ति के बाद। कामकाजी महिलाओं को एक स्वतंत्र व प्रतिष्ठित स्थिति प्राप्त होती हैं, लेकिन वे अपनी पारिवारिक भूमिकाओं से मुक्त नहीं होतीं। परिणामस्वरूप उन्हें सभी जगहों पर भूमिका-संघर्ष का सामना करना पड़ता है।

भारतीय समाज में महिलाओं की प्रकृति व प्रस्थिति के संबंध में बहुत अस्पष्टता है। उनकी प्रस्थिति में अंतर्विरोधी छवियों के दर्शन होते हैं। समाज की मान्यता के अनुसार एक तरफ वे शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं जो भय व श्रद्धा उत्पन्न करता है, दूसरी तरफ अपने सौंदर्य व शील के लिए प्रशंसित होती हैं। पारंपरिक भारतीय समाज में स्त्रियां पारिवारिक क्षेत्र में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करती थीं, जबकि सार्वजनिक क्षेत्रों में पुरुष स्वाभाविक रूप से सर्वोच्च माने जाते थे।

भक्ति आंदोलन के काल में महिलाओं की स्थिति में कुछ हद तक सुधार हुआ था। इससे महिलाओं को सामाजिक व धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी। धार्मिक व सामाजिक सुधार आंदोलनों से स्त्रियों में आत्मविश्वास का संचार हुआ था। ब्रिटिश शासन के दौरान किए गए कुछ सुधारात्मक उपायों से महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन हुआ। यह शिक्षा के प्रसार, सती व बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं के उन्मूलन से संभव हुआ। राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, एनी बेसेंट और महात्मा गांधी जैसे समाज सुधारकों के प्रयत्नों का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान है।

स्वतंत्रता के पश्चात अनेक वैधानिक प्रावधानों द्वारा स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार के सार्थक प्रयास हुए। इनमें विशेष विवाह कानून, 1954, हिंदू विवाह कानून, 1955, हिंदू उत्तराधिकार कानून, 1956 और दहेज प्रथा विरोधी कानून, 1961 महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय संविधान द्वारा 'समानता के अधिकार' को मूल अधिकारों के अंतर्गत रखा गया है।

तथाकथित रूप से निम्न लिंग माने जाने के कारण स्त्रियों को अब भी अनेक सुविधाओं व अधिकारों से वंचित किया जाता है। भूमिका-आवंटन के संदर्भ में अब भी स्त्रियों के कार्यक्षेत्र व पुरुषों के कार्यक्षेत्र में पारंपरिक विभेद अपनाया जाता है।

महिलाओं की वर्तमान स्थिति

स्वतंत्रता के पश्चात महिलाओं की स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है। इन विकासात्मक उपायों का सर्वाधिक लाभ शिक्षित, नगरीय एवं उच्च आय समूह वाली महिलाओं को मिला। औसत भारतीय महिलाओं का जीवन प्रायः भेदभाव व वंचनाओं के विरुद्ध लंबे युद्ध की तरह है। गरीब भारतीय महिलाओं के जीवन में अनेक व्याधियों व अनेक बच्चों का बोझ देखा जा सकता है। लिंग असमानता की उत्पत्ति तीन मुख्य कारणों से होती है:

1. पुरुष व महिलाओं की आर्थिक भूमिकाओं एवं उसमें अंतर्निहित शक्ति में भिन्नता।
2. स्त्रियों की गतिशीलता व स्वतंत्रता में सांस्कृतिक-पारंपरिक अवरोध।
3. वैवाहिक एवं पारिवारिक व्यवहार।

वर्तमान समाज में स्त्रियों की स्थिति को निर्धारित करने वाले विभिन्न आंकड़ों के विश्लेषण से एक व्यापक चित्र प्राप्त हो सकता है।

भारत में लिंग अनुपात में पुरुष स्त्रियों की तुलना में अधिक हैं। जनगणना के अनुसार 1000 पुरुषों पर

1901 में 972 महिलाएं, 1971 में 930 महिलाएं और 1991 में 927 महिलाएं थीं। वर्ष 2001 की जनगणना में छः बिंदुओं के सुधार के बाद प्रति हजार पुरुषों पर 933 महिलाओं का अनुपात हुआ। इस प्रकार का प्रतिकूल लिंग अनुपात कुछ विशेष प्रवृत्तियों के कारण से है, जैसे—पुत्र को वरीयता, पुत्रियों के प्रति भेदभाव, स्त्री-भ्रूण हत्या, स्त्री-शिशु हत्या। स्त्री शिक्षा का अनुपात पुरुष व औसत राष्ट्रीय शिक्षा अनुपात की तुलना में हमेशा कम रहा है। स्त्री शिक्षा में क्षेत्रीय भिन्नता के साथ उतार-चढ़ाव दर्ज किया गया है। आमदनी व अन्य आर्थिक संसाधनों तक स्त्रियों की पहुंच व नियंत्रण बहुत कम हैं। उनके काम गौण व बिना पारिश्रमिक के रह जाते हैं। अधिकांश महिलाएं अर्थव्यवस्था के संगठित कार्यक्षेत्र से बाहर कार्यरत पाई गई हैं। गृहकार्यों में वे पुरुषों की तुलना में ज़्यादा श्रम करती हैं। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का सूत्र उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में है। पितृवंशीय परिवारों में स्त्रियों का निम्न स्तर, नियम-कानून विहीनता की स्थिति, वैधानिक प्रावधानों को लागू करने में विफलता, उपभोगवाद, पारंपरिक मूल्यों में क्षरण आदि कुछ कारणों से महिलाओं की असुरक्षा में बढ़ोतरी हो रही है।

महिलाओं के लिए संवैधानिक प्रावधान

भारत का संविधान लिंग-समानता को सैद्धांतिक स्तर पर स्वीकार करता है। संविधान की प्रस्तावना में सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक न्याय की समानता का विवरण मिलता है। अनुच्छेद 14 के अनुसार विधि के समक्ष सभी समान हैं। अनुच्छेद 15 और 16 लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को रोकता है। अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्यों के लिए निर्देश है कि वे महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान कर सकते हैं, जो समानता के सिद्धांतों के विरुद्ध नहीं माना जाएगा। अनुच्छेद 15 (ए) (इ) भी नागरिकों को मौलिक कर्तव्यों का बोध कराता है जिसके अनुसार कोई भी व्यवहार जो स्त्री-प्रतिष्ठा पर आघात करे, वर्जित है। संविधान के निर्देशक सिद्धांत में तीन जगहों पर महिलाओं की चर्चा मिलती है। अनुच्छेद 39 (सी) के अनुसार राज्यों का दायित्व बनता है कि वे ध्यान दें कि स्त्री व पुरुष कामगार की शक्ति व स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाए। इसी अनुच्छेद (39 डी) में प्रावधान है कि राज्य अपनी नीतियों के द्वारा स्त्री व पुरुष कामगारों को समान कार्यों के लिए समान मज़दूरी की व्यवस्था करें। अनुच्छेद 112 स्पष्ट करता है कि राज्य प्रसूति अवकाश की भी व्यवस्था करेगा।

अन्य प्रावधान

महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए राज्यों ने अनेक कानून बनाए हैं। हिंदू विवाह कानून, 1955 के द्वारा तलाक का प्रावधान किया गया है। समान पारिश्रमिक कानून, 1976 के अनुसार महिला व पुरुष मज़दूरों के लिए समान कार्य के लिए समान मज़दूरी एवं पुरुष या स्त्री के यौन शोषण को संज्ञेय अपराध माना गया है। दहेज निषेध अधिनियम, 1961 दहेज के अपराध को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके तहत, यदि कोई विवाहित स्त्री अपने विवाह के सात सालों के अंदर आत्महत्या करती है और यह साबित होता है कि उसे क्रूर प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा था तो उसके पति व ससुराल के अन्य रिश्तेदारों के लिए दंड की व्यवस्था है। बाल-विवाह प्रतिबंध अधिनियम, 1976 के अनुसार विवाह की उम्र, लड़की के लिए 18 वर्ष व लड़के के लिए 21 वर्ष निश्चित की गई है। मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रगनेंसी एक्ट, 1971 में स्वास्थ्य के आधार पर गर्भपात को कानूनी मान्यता दी

गई है। द इनडीसैंट रिप्रजेंटेशन ऑफ विमन (प्रोहिबिशन) एक्ट, 1986 एवं कमीशन ऑफ सती (प्रीवेंशन) एक्ट, 1987 के द्वारा स्त्री की प्रतिष्ठा को सुरक्षित करने व उनके विरुद्ध हिंसा व शोषण को रोकने के प्रयत्न किए गए हैं।

छठी पंचवर्षीय योजनाओं में स्त्रियों की आर्थिक भूमिका पर बल दिया गया है। इसमें स्त्रियों के महत्वपूर्ण मुद्दों जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा एवं रोज़गार को भी देखा गया है। महिला-कल्याण संबंधी नीतियों में सैद्धांतिक परिवर्तन आते रहे हैं। 70 के दशक में कल्याण पर, 80 के दशक में विकास पर और 90 के दशक में सशक्तीकरण पर बल दिया जाता रहा है। प्रस्तावित महिला आरक्षण विधेयक के द्वारा महिलाओं को विधायिका में 33 प्रतिशत आरक्षण देने का लक्ष्य रखा गया है। स्पष्ट रूप से समझने वाला तथ्य है कि केवल संवैधानिक प्रावधानों से महिलाओं की सामाजिक स्थिति में संतोषजनक सुधार संभव नहीं है। उन्हें विकास की प्रक्रिया में सहभागिता देने की भी आवश्यकता है। उन्हें राजकीय व सामाजिक मामलों में भी भागीदारी मिलनी चाहिए। उससे भी बढ़कर यह ज़रूरी है कि महिलाओं के संदर्भ में और उनके सशक्तीकरण के विषय पर हम अपने दृष्टिकोण में सकारात्मक परिवर्तन लाएं।

शब्दावली

प्रथा - व्यवहारों एवं विश्वास के स्थापित प्रतिमान।

विचलन - यह ऐसे व्यवहार का निरूपण करता है जो अपेक्षाओं व नियमों का उल्लंघन करता है और जिस पर दंडात्मक कार्यवाही की संभावना होती है।

भूमंडलीय प्रक्रिया - यह ऐसी सामाजिक या आर्थिक प्रक्रिया है जो विधिगत, राजनीतिक, तकनीकी व भौगोलिक सीमाओं से हटकर पूंजी, उत्पाद, विचारों के मुक्त प्रवाह को सुनिश्चित करती है।

जाति पंचायत - ऐसी ग्रामीण सभा जिसमें किसी जाति विशेष के सदस्य एकत्र होते हैं व किसी सामाजिक विषय पर जातिगत दृष्टिकोण से विचार करते हैं जाति पंचायत कहलाती है।

जनरीतियां - ये किसी समाज में सामाजिक मान्यता प्राप्त (प्रतिदिन) क्रियाकलापों से संबद्ध हैं तथा समाज द्वारा स्थापित एवं मान्यता प्राप्त होती हैं।

रूढ़ियां - ये ऐसी जनरीतियां हैं जिनसे कल्याणकारी अर्थ जुड़े होते हैं। इन्हें तोड़ना जनरीति की तुलना में कठिन होता है।

पंचायत - यह प्रजातांत्रिक ग्रामीण सभा होती है, जो किसी ग्राम के वयस्क सदस्यों के द्वारा पांच वर्षों के लिए चुनी जाती है।

तृतीय विश्व - वे देश जो औद्योगिक रूप से उन्नत पूंजीपति देशों एवं पूर्व समाजवादी देशों की श्रेणी में नहीं आते हैं।

अभ्यास

1. अनुसूचित जातियों से आप क्या समझते हैं ?
2. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं की व्याख्या कीजिए।
3. अनुसूचित जातियों के लिए उपलब्ध संवैधानिक प्रावधानों का विवरण दीजिए।
4. अनुसूचित जनजातियों का अर्थ बताइए।
5. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
6. भारत में अनुसूचित जनजातियों के लिए किए गए संवैधानिक प्रावधान बताइए।
7. 'पिछड़ा वर्ग' शब्द को समझाइए।
8. वर्तमान भारत में महिलाओं की प्रस्थिति की व्याख्या कीजिए।
9. 'अल्पसंख्यक' से आप क्या समझते हैं ?
10. भारत में अल्पसंख्यकों की समस्याओं का विश्लेषण कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- बेतेई, आंद्रे, ***क्रोनिकल्स ऑफ अवर टाइम,*** पैंगविन बुक्स, नई दिल्ली, 2000
- दुबे, एस. सी., (सं.), ***इंडिया सिंस इनडिपैंडैंस,*** विकास पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1977
- अहमद, इम्तियाज़ एवं अन्य, (सं.), **प्लूरलिज़्म एंड इक्वेलिटी**, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2000
- थापर, रोमेश, (सं.), ***ट्राइब, कास्ट एंड रिलीजन,*** मैकमिलन, दिल्ली, 1977
- श्रीनिवास, एम. एन., (सं.), ***कास्ट इट्स टवैन्टिएथ अवतार,*** पैंगविन, नई दिल्ली, 1996
- सिंह, के. एस., ***द पीपल ऑफ इंडिया : नेशनल सिरीज, (वौल्यूम 2), द शिड्यूल्ड कास्ट,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1993

अध्याय 11

भारतीय समाज के अध्ययन के उपागम

भूमिका

'उपागम' का अर्थ किसी व्यक्ति द्वारा किसी विचार, वस्तु, समूह या घटना को देखने का तरीका है। सामाजिक-सांस्कृतिक तथा मानव जीवन के अन्य आयामों के अध्ययन के दौरान विद्वानों के एक समूह में विचारों की साझेदारी विकसित होती है, जिससे एक विशेष प्रकार का समाजशास्त्रीय उपागम विकसित होता है। किसी भी उपागम से कुछ उपयुक्त अवधारणाएं, सिद्धांत, अध्ययन प्रणालियां तथा तकनीकें जुड़ी होती हैं। अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक घटना को अध्ययन करने वाले अन्य उपागमों के समर्थकों के द्वारा इस उपागम की आलोचना भी की जा सकती है। पश्चिमी तथा भारतीय समाजशास्त्र में अनेक प्रकार के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों का विकास हुआ है जो सिद्धांतों, अवधारणाओं, अध्ययन पद्धतियों एवं तकनीकों के स्तर पर एक दूसरे से भिन्न हैं।

अगस्त कोंत एवं दुर्खाइम जैसे समाजशास्त्रियों ने भौतिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों के दृष्टिकोणों को समाजशास्त्र में भी लागू करना चाहा। डिल्थे के प्रभाव में अन्य समाजशास्त्रियों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया। डिल्थे का कहना था कि प्रकृति की दुनिया (प्राकृतिक दुनिया) का अवलोकन एवं अध्ययन तो बाहर से किया जा सकता है, परंतु मानव क्रिया का अध्ययन एवं अवलोकन तो अंदर से ही किया जाना चाहिए। फलस्वरूप, समाजशास्त्र के लिए उपयुक्त एक वैकल्पिक उपागम के विकास की आवश्यकता है, जो सामाजिक जीवन के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझा सके।

विभिन्न समाजशास्त्रीय उपागमों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। योगेंद्र सिंह के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र में चार प्रमुख उपागम हैं। इनके नाम हैं - भारतीय विद्या उपागम, सांस्कृतिक-शास्त्रीय उपागम, संरचनात्मक उपागम एवं ऐतिहासिक उपागम।

भारतीय समाजशास्त्र में उपागमों के अन्य प्रकार के वर्गीकरण भी उपलब्ध हैं। हर प्रकार के वर्गीकरण में दो या अधिक उपागमों में कुछ न कुछ समानताएं हैं।

भारतीय विद्या उपागम

भारतीय विद्या उपागम (इंडोलॉजी) का अर्थ है भारतीय समाज एवं संस्कृति का व्यवस्थित अध्ययन। इस उपागम के प्रवक्ताओं का दावा है कि भारतीय सभ्यता की विरलता को यूरोपियन समाजशास्त्र के ढांचे के अनुरूप नहीं ढाला जा सकता है। उनका यह भी मानना है कि भारतीय समाज को केवल भारतीय सभ्यता के सिद्धांतों, अवधारणाओं तथा प्रारूपों के द्वारा ही ठीक से समझा जा सकता है। इस उपागम के मानने वाले मूल रूप से लिखित साक्ष्यों पर निर्भर करते हैं। यह उपागम संरचना से अधिक भारतीय

समाज की संस्कृति को महत्त्व देता है। इंडोलॉजी समाजशास्त्र की तरह एक स्वतंत्र विज्ञान एवं समाजशास्त्र के अंतर्गत एक दृष्टिकोण दोनों ही है। अपने दोनों रूपों में यह भाषा, विचारों, विश्वासों, प्रथाओं, निषेधों, नियमों, संस्थाओं, औज़ारों, तकनीकों, कलाकृतियों, अनुष्ठानों, पूजा–विधियों, उत्सवों तथा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के अन्य तत्त्वों का अन्वेषण करता है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इंडोलॉजी की मुख्यधारा पश्चिमी विद्वानों द्वारा विकसित वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इंडोलॉजी के अध्ययनों का मुख्य स्रोत शास्त्रीय ग्रंथ, पांडुलिपियां, पुरातात्त्विक दस्तावेज़, भाषा तथा विज्ञान से जुड़े तथ्यों, संकेतों एवं प्रतीकों का अध्ययन है। इंडोलॉजी के अध्ययन का उद्देश्य भारतीय संस्कृति की गहनता को समझना है।

एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में इंडोलॉजी का जन्म भारत में समाजशास्त्र के जन्म से काफी पहले हुआ था। इंडोलॉजी का पहला महत्त्वपूर्ण केंद्र सर विलियम जोंस द्वारा कलकत्ता शहर में 1784 में शुरू किया गया था। सन 1886 तक 'थियोसोफिकल सोसायटी', ने अड्यार में 'भारतीय विद्या अध्ययन केंद्र' शुरू कर दिया था। सन 1891 में 'दि ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट', 'मैसूर की स्थापना तथा 'दि भंडारकर इंस्टीट्यूट', पुणे की स्थापना 1917 में हो गई थी। इस प्रकार जब बंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का पहला विभाग 1919 ई. में खुला जो इंडोलॉजी भारत में स्थापित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी। फलस्वरूप भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख संस्थापक इंडोलॉजी से प्रभावित थे। बी. के. सरकार, जी. एस. घुर्ये, राधाकमल मुखर्जी, के. एम. कपाड़िया, पी. एच. प्रभु एवं इरावती कर्वे की रचनाओं पर भारतीय विद्या उपागम का प्रबल प्रभाव है।

भारतीय समाजशास्त्र में भारतीय विद्या उपागम के ऊपर इंडोलॉजी नामक स्वतंत्र विज्ञान का निश्चित प्रभाव है, परंतु ये दोनों एक समान नहीं हैं। जिन समाजशास्त्रियों ने भारतीय विद्या उपागम का प्रयोग किया है वे अन्य समाजशास्त्रीय उपागमों से भी प्रभावित रहे हैं। उदाहरण के लिए जी. एस. घुर्ये की रचनाओं में भारतीय विद्या उपागम तथा डब्ल्यू. एस. आर. रिवर्स द्वारा प्रतिपादित प्रसारवादी उपागम का सम्मिश्रण दिखाई देता है। उसी प्रकार, राधाकमल मुखर्जी की रचनाओं में भारतीय विद्या दृष्टिकोण एवं अमेरिकी शैली के तथ्यपरक समाजशास्त्र के बीच सम्मिश्रण है। दूसरी ओर, एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में इंडोलॉजी के अंतर्गत ही कई प्रकार के उपागम एवं अध्ययन पद्धतियां पाई जाती हैं। इस विज्ञान की कई शाखाएं हैं। विभिन्न भारतीय समाजशास्त्री इंडोलॉजी की विभिन्न शाखाओं से प्रभावित थे। उदाहरण के लिए बी. के. सरकार विलियम जोंस द्वारा स्थापित 'एशियाटिक सोसायटी' की इंडोलॉजी संबंधी अध्ययनों से प्रभावित थे। जी. एस. घुर्ये पर 'भंडारकर संस्थान', पुणे से जुड़े इंडोलॉजी संबंधी लेखन का प्रभाव था, न कि इंडोलॉजी की ब्रिटिश शाखा का, जिसकी स्थापना सर विलियम जोंस अथवा जर्मन विद्वान मैक्समूलर की रचनाओं के आधार पर हुई थी। इसी प्रकार राधाकमल मुखर्जी आनंद के. कुमारस्वामी की इंडोलॉजी संबंधी रचनाओं से प्रभावित थे।

इंडोलॉजी संबंधी अध्ययनों के अंतर्गत दो प्रकार के अध्ययन शामिल हैं। पहला, भारत विद्या अध्ययन और दूसरा प्राच्य अध्ययन (ओरिएंटल स्टडीज़)। इन दोनों के बीच समानता एवं असमानता दोनों हैं। इंडोलॉजी भारतीय समाज एवं संस्कृति का समानुभूत एवं सकारात्मक प्रतिबिंब है, जबकि प्राच्यवाद इसके सर्वथा विपरीत है। प्राच्यवाद का जन्म ब्रिटिश साम्राज्य एवं पश्चिम के अन्य औपनिवेशिक सत्ता केंद्रों की जरूरत थी, जबकि भारत विद्या अध्ययन का जन्म भारतीय ज्ञान के प्रति होने वाली जिज्ञासा का प्रतिफलन

था। मैक्समूलर, जेम्स मिल तथा विलियम आर्चर का नाम प्राच्य विद्या के मूर्धन्य विद्वानों के रूप में लिया जाता है। विलियम जौंस, विलकिंस, कोलब्रुक एवं विल्सन जैसे अंग्रेज, रेने ग्विन, लुई रेनू एवं बुगले जैसे फ्रांसीसी एवं आनंद के. कुमारस्वामी, जोसेफ केंपबेल एवं मर्सिया इलियड जैसे अमेरिका में कार्यरत विद्वानों की रचनाओं से इंडोलॉजी का संवर्धन हुआ।

इंडोलॉजी के अध्ययनों के द्वारा भारतीय संस्कृति को सुस्पष्ट रूप से समझने की कोशिश की गई। सामान्यतया इन अध्ययनों के द्वारा भारतीय संस्कृति के गुणों एवं अवगुणों की अतिरंजना की गई है। प्राच्यविदों ने सामान्यतया भारतीय संस्कृति की कुरीतियों व बुराइयों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया तथा ईसाई मिशनरियों एवं ब्रिटिश राज की भारत में उपयोगिता को सही साबित करने की कोशिश की। दूसरी ओर, भारतीय विद्याविज्ञों ने भारतीय अध्यात्म की अतिरंजना की जबकि सामान्य भारतीय जन की व्यावहारिक बुद्धिमत्ता एवं भौतिक संस्कृति की उपलब्धियों की किसी सीमा तक अवहेलना की।

भारतीय समाजशास्त्र के अंतर्गत भारतीय विद्या उपागम इंडोलॉजी के ब्रिटिश संप्रदाय की तुलना में अधिक विकसित, परिष्कृत और ज़्यादा विवेक संगत है। समाजशास्त्र के बड़े ढांचे के अंतर्गत भारतीय परिवार, विवाह, नातेदारी, धर्म, कला, संस्कृति, भाषा, पौराणिक कथाएं एवं सभ्यता की समझ को विस्तृत करने में भारतीय विद्या उपागम ने सफलता पाई है।

हाल के वर्षों में लुई ड्यूमो एवं मैकिम मैरियट के प्रभाव में संस्कृतिशास्त्रीय रचनाओं के अंतर्गत भारत को समझने के लिए भारतीय विद्या उपागमों का सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है। भारतीय समाज एवं संस्कृति की सृजनशील समझ के विकास हेतु टी. एन. मदन ने कुमारस्वामी एवं लेवीस्ट्रॉस के दृष्टिकोणों में समन्वय की वकालत की है। बहुत पहले डी. पी. मुकर्जी ने इंडोलॉजी के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत भारतीय परंपरा एवं मार्क्स के द्वंद्ववाद के समन्वय द्वारा विश्लेषण की वकालत की थी। स्वतंत्रता पूर्व के करीब सभी महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्री इंडोलॉजिकल उपागम से प्रभावित थे। यहां तक कि श्रीनिवास ने भी अपने क्षेत्र अध्ययनों के विश्लेषण में इंडोलॉजिकल तथ्यों का कभी-कभी उपयोग किया है।

संस्कृतिशास्त्रीय उपागम

संस्कृतिशास्त्रीय उपागम समाजशास्त्र में सुपरिभाषित या सर्वस्वीकृत शब्दावली नहीं है। इसके अंतर्गत कई तरह के विचार या दृष्टिकोण शामिल हैं। परंतु इसमें एक बात पर सहमति है कि यह संस्कृति के अध्ययन के लिए अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। सभी उपागमों के लिए सांस्कृतिक प्रघटना की प्राथमिक अभिव्यक्ति संस्कृति है और द्वितीयक अभिव्यक्ति सामाजिक संबंध और सामाजिक संरचना।

संस्कृतिशास्त्रीय उपागम ब्रिटेन तथा जर्मनी की तुलना में अमेरिका और फ्रांस में ज़्यादा लोकप्रिय है। यह मूल रूप से व्यक्ति का एक सांस्कृतिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है। संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है। संस्कृति के अध्ययन के अंतर्गत विचार, मूल्य, सामाजिक संगठन, तकनीक, भाषा, मिथक, इतिहास और धर्म को शामिल किया जाता है। अमेरिका में इसका प्रतिनिधित्व मूलत: सांस्कृतिक विश्लेषण द्वारा होता है।

क्लिफोर्ड ग्रीट्ज एवं डेविड श्नाइडर जैसे सांस्कृतिक विश्लेषकों ने संस्कृति के प्रतीकों को एक व्यवस्था के रूप में देखा है। इनका कहना है कि सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को सामाजिक व्यवस्थाओं से अवश्य अलग किया जाना चाहिए तथा इनकी व्याख्या आंतरिक रूप से सार्थक संपूर्णता के रूप में की जानी चाहिए। संस्कृति विश्लेषकों की दृष्टि में व्यावहारिक

अभिव्यक्तियों की अपेक्षा सांस्कृतिक अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन्हें संस्कृतिशास्त्रीय उपागम के प्रवक्ता एवं विवेचनात्मक विश्लेषण के प्रवक्ता के रूप में भी जाना जाता है।

फ्रांस में संस्कृतिशास्त्रीय उपागम का प्रतिनिधित्व लेवी स्ट्रॉस के संरचनावाद से होता है। लेवी स्ट्रॉस ने संरचनावादी भाषा विज्ञान से प्रेरणा पाई थी। संरचनावादी भाषा विज्ञान चेतन पदार्थ की तुलना में उसकी अचेतन मूल संरचना को महत्त्व देता है। इनका कहना है कि तत्त्वों का महत्त्व इसके अंतर्निहित गुणों पर नहीं बल्कि इनके बीच जुड़े हुए एवं विपरीत तत्त्वों पर आधारित होता है।

लेवी स्ट्रॉस ने भाषा विज्ञान के संरचनात्मक उपागम का प्रयोग नातेदारी, मिथक, टोटम, धार्मिक विश्वास, आदिम मानव एवं सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों को समझने में किया। उनका कहना था कि सामाजिक जीवन को प्रतीकों या सांस्कृतिक सृजन की व्यवस्था के रूप में समझा जाना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि ये प्रतीक तथा सांस्कृतिक रचना मनुष्य की मानसिक-संरचना की अभिव्यक्तियां हैं।

लेवी स्ट्रॉस के लिए प्रकृति एवं संस्कृति, अगम्यगमन एवं बहिर्विवाह, विनिमय एवं पारस्परिकता आदि विभिन्न विरोधी तत्त्व मानव संस्कृति को समझने के माध्यम हैं। उन्होंने कहा कि सांस्कृतिक तथ्य 'मानव मस्तिष्क की अचेतन संरचना' की उपज हैं। संरचनावाद का उद्देश्य मानव समाज के सार्वभौमिक तत्त्वों की खोज है। यह सामाजिक संरचना के ऐतिहासिक उपागम का विरोधी है तथा संस्कृतिशास्त्रीय उपागम के चरम रूप की वकालत करता है।

भारतीय समाजशास्त्र में संस्कृतिशास्त्रीय उपागम तथा भारत विद्या उपागम में कई समानताएं हैं। लुई ड्यूमो की होमो-हाईरारकिकस (1970) का प्रकाशन भारतीय समाजशास्त्र में संस्कृतिशास्त्रीय उपागम पर पटाक्षेप करता जान पड़ता है। ड्यूमो ने इंडोलॉजी को भारत के समाजशास्त्र का आधार स्तंभ तो माना है, परंतु वे भारतीय इंडोलॉजी-विशेषज्ञों की रचनाओं को बहुत महत्त्व नहीं देते। लेवी स्ट्रॉस के प्रभाव में ड्यूमो पवित्रता और अपवित्रता को जाति व्यवस्था की संरचना को समझने का मूल आधार मानते हैं। यद्यपि यह उपागम पर्याप्त वाद-विवाद का विषय रहा है।

संस्कृतिशास्त्रीय उपागम का दूसरा महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विश्लेषण संस्कृति के सिद्धांतों की पद्धति से आया है। यह रूप ग्रिट्ज, मैकिम मैरियट, इंडेन एवं निकोलस, डेविड स्नाइडर एवं मिल्टन सिंगर की रचनाओं में देखने को मिलता है। इस उपागम के समर्थकों ने विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। मैरियट एवं उसके साथियों ने भारत के लिए 'एथनोसोशियोलॉजी' का विकास किया। एथनोसोशियोलॉजी ने संस्कृति के संदर्भ ग्रंथों एवं भाषाओं के अध्ययन में अर्थों एवं प्रतीकों, संहिताओं (कोड्स) एवं सार तत्त्वों के अध्ययन पर ज़ोर दिया है। सांस्कृतिक विश्लेषकों ने भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के अंतर्गत व्यक्ति की अवधारणा का अध्ययन किया है। इन लोगों ने परिवार, विवाह, नातेदारी, खान-पान, शास्त्रीय तथा वृहद एवं लघु परंपराओं तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं आदि का भी अध्ययन किया है।

संस्कृतिशास्त्रीय उपागम में तथ्यों के अध्ययन के स्थान पर 'व्यक्तियों के विचारों' के अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ी है। ये विद्वान आम आदमी के अपने प्रारूप में प्रतिबिंबित ज्ञान एवं यथार्थ के संबंधों को खोजने की कोशिश करते हैं।

इस उपागम ने संस्कृति के विश्लेषण की अनेक परिष्कृत अध्ययन पद्धतियों एवं तकनीकों का विकास किया है। परंतु तुलना करने की प्रवृत्ति ऐसे अध्ययनों में सामान्यतया नहीं पाई जाती है, ज़्यादातर ऐसे

अध्ययन महाकाव्य, आख्यान तथा मिथक या लोक परंपराओं एवं संस्कृति के अन्य प्रतीकात्मक स्वरूपों पर आधारित होते हैं। सामाजिक यथार्थ के बारे में ये धारणाएं सामान्य जन के द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों एवं अवधारणाओं के समाजशास्त्रीय भाषा में रूपांतरण पर आधारित होती है। परंतु रूपांतरण के द्वारा इसकी व्याख्या नहीं की जाती है, यह संस्कृतिशास्त्रीय उपागम की एक मुख्य सीमितता है।

संरचनात्मक उपागम

संरचनात्मक उपागम का दावा है कि समाजशास्त्र एक सार्वभौमिक विज्ञान है तथा इसकी अवधारणाओं, सिद्धांतों एवं मान्यताओं का सदुपयोग समाज के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यूरोप के बाहर भी सफलतापूर्वक किया जा सकता है। यह संस्कृति के नियामक ढांचे की तुलना में आनुभविक संरचना को ज़्यादा महत्त्व देता है। यह उपागम तथ्य संग्रह के लिए काफी व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध क्षेत्रकार्य की वकालत करता है। इस उपागम की केंद्रीय अवधारणा सामाजिक संरचना है।

सामान्यत: सामाजिक संरचना का तात्पर्य किसी समाज में बार-बार दुहराए जाने वाले सामाजिक व्यवहारों के प्रतिमान से होता है। इसके अंतर्गत किसी समाज के तत्त्वों के बीच पाए जाने वाले स्थायी, व्यवस्थित एवं प्रतिमानित संबंधों को शामिल किया जाता है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संरचना को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया है। संक्षेप में हम लोग ए. आर. रैडक्लिफ ब्राउन की चर्चा कर सकते हैं, जिनकी प्रेरणा से एम. एन. श्रीनिवास ने दक्षिण भारत के कुर्गों में धर्म एवं समाज का संरचनात्मक-प्रकार्यवादी उपागम से अध्ययन किया।

रैडक्लिफ ब्राउन की दृष्टि में सामाजिक संरचना एक निश्चित समय में पाई जाने वाली आनुभविक वास्तविकता है, जबकि संरचनात्मक रूप एक अन्वेषक द्वारा वास्तविकता का अमूर्तिकरण है जो एक निश्चित समय का नहीं बल्कि अवधि की ओर संकेत करता है। फॉटिस, इवांस प्रिचार्ड, फर्थ एवं नाडेल सामाजिक संरचना को व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं। रैडक्लिफ ब्राउन किसी समाज की संस्कृति को उसकी सामाजिक संरचना से अलग मानते हैं। उनके लिए किसी समाज की संस्कृति इसके सदस्यों के व्यवहार, सोच एवं भावना का मानकीकृत प्रारूप होता है। जबकि सामाजिक संरचना उनके लिए एक निश्चित समय में इसके सभी सदस्यों के बीच पाए जाने वाले सभी सामाजिक संबंधों की समष्टि से है। रैडक्लिफ ब्राउन की दृष्टि में संरचनात्मक कार्यवाद उपागम में सामाजिक संबंधों के रूप अर्थात संरचना इसके प्रभावों अर्थात प्रकार्यों से सर्वथा भिन्न होती है। रैडक्लिफ ब्राउन की दृष्टि में वैज्ञानिक रूप में संस्कृति का अध्ययन सामाजिक संरचना के आयाम के रूप से ही हो सकता है। रैडक्लिफ ब्राउन के अनुयायी संस्कृति और सामाजिक संरचना को अविच्छिन्न मानते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाजशास्त्र में संरचनात्मक उपागम सबसे लोकप्रिय, विकसित और सुसंबद्ध उपागम है। इस उपागम का प्रयोग ग्रामीण समुदाय, जाति संरचना, पारिवारिक संरचना, नातेदारी संरचना, धार्मिक संरचना एवं राजनीतिक संरचना आदि के अध्ययन में किया गया है। संरचनात्मक अध्ययनों में अवधारणाओं के विकास एवं प्रारूपों के निर्माण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। यह उपागम संरचनात्मक अतारतम्यता एवं समाज में वर्गीकरण की प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बल देता है। समानता एवं असमानता की समस्याओं, शक्ति संरचना, सामाजिक स्तरीकरण, भारतीय समाज की जनसंख्यात्मक एवं पारिवारिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन इस उपागम से किया गया है।

संरचनात्मक उपागम के अंतर्गत जाति एवं वर्ग जैसी सामाजिक श्रेणियों के तुलनात्मक अध्ययन तथा भारतीय समाज की प्रकृति पर इसके परिणामों के अध्ययन पर विशेष विचार किया गया है। कई महत्त्वपूर्ण अध्ययन, जैसे – एम. एन. श्रीनिवास का 'कुर्ग' के निवासियों में धर्म और समाज का अध्ययन, उन्हीं का रामपुर गांव का अध्ययन एवं आधुनिक भारतीय समाज में परिवर्तन का अध्ययन रैडक्लिफ ब्राउन के संरचनात्मक उपागम में कुछ संशोधनों के साथ किए गए अध्ययन हैं। संरचनात्मक प्रकार्यवाद की मूल अवधारणाओं का उपयोग करते हुए श्रीनिवास ने ग्रामीण जीवन की संरचना, परिवार की संरचना एवं जाति संबंधों की संरचना का अध्ययन किया है।

एस. सी. दुबे ने भारतीय ग्राम एवं भारत के परिवर्तित हो रहे गांवों के अध्ययन में इसी उपागम का प्रयोग किया। एफ. जी. बेली ने भारत में हो रहे संरचनात्मक परिवर्तनों का जनजाति, जाति एवं राष्ट्र जैसी तुलनात्मक श्रेणियों के आधार पर विश्लेषण किया, यह भी संरचनात्मक उपागम का उदाहरण है। आंद्रे बेतेई द्वारा तंजौर गांव में जाति, वर्ग तथा शक्ति एवं कृषक संरचना के अध्ययनों में मैक्स वैबर तथा कार्ल मार्क्स द्वारा प्रयुक्त विश्लेषणात्मक श्रेणियों का प्रयोग किया गया है। टी. एन. मदन ने परिवार, विवाह एवं नातेदारी का अध्ययन तो संरचनात्मक प्रकार्यवादी उपागम से किया परंतु भारतीय संस्कृति में संन्यास एवं गृहस्थ विचारधारा के अध्ययन में उन्होंने संस्कृतिशास्त्रीय उपागम का प्रयोग किया। ए. एम. शाह ने भारतीय परिवार के घरेलू आयाम का अध्ययन तो संरचनात्मक उपागम से किया परंतु ग्रामीण जीवन के अध्ययन में उन्होंने ऐतिहासिक उपागम का प्रयोग किया। टी. के. उम्मन द्वारा भारत के सामाजिक आंदोलनों के अध्ययनों में भी समाजशास्त्रीय अन्वेषण के संरचनात्मक उपागम का ही प्रयोग हुआ।

भारत में संरचनात्मक उपागम की पहचान एक से ज़्यादा अवधारणात्मक श्रेणियों के प्रयोग तथा तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग से परिभाषित होती रही हैं। ऐसे अध्ययनों का मूल छोटे-छोटे आनुभविक अध्ययनों में निहित हैं, परंतु इनकी सैद्धांतिक तथा अवधारणात्मक व्यवस्था व्यापक सामान्यीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण रही हैं। उदाहरण के लिए श्रीनिवास द्वारा प्रयुक्त प्रभुजाति, संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण और उनके वर्ग तथा जाति के बीच विश्लेषणात्मक अंतर की अवधारणाओं को समाजशास्त्रियों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी ने सामाजिक संबंधों के प्रतिमानों को समझने के लिए उपयोगी पाया है। भारत में समाजशास्त्र में संरचनात्मक उपागम का विस्तार संरचनात्मक उपागम प्रकार्यवाद से लेकर कार्ल मार्क्स और वैबर के संश्लेषण तक व्याप्त है।

अधिकांश संरचनात्मक अध्ययनों की मुख्य सीमितता ऐतिहासिक या सांस्कृतिक आयामों की उपेक्षा रही है। ऐसे अध्ययन सामान्यतया छिपे हुए अंतर्विरोधों को नज़रअंदाज करके सामाजिक संरचना की सर्वसम्मत तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। इन अध्ययनों की वास्तविक शक्ति इनकी समृद्ध आनुभविक परंपराएं तथा परिष्कृत अवधारणाएं और सिद्धांतों में निहित हैं।

ऐतिहासिक उपागम

समाजशास्त्र में ऐतिहासिक उपागम की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति ऐतिहासिक समाजशास्त्र में हुई है। सामाजिक समूहों, उनकी सर्जना, उनके अंत:संबंधों एवं उनको सहारा देने वाली या कमज़ोर करने वाली परिस्थितियों के एक विशेष तुलनात्मक अध्ययन को ऐतिहासिक समाजशास्त्र कहते हैं।

ऐतिहासिक समाजशास्त्र या समाजशास्त्र में ऐतिहासिक उपागम की सैद्धांतिक स्थापनाएं निम्न हैं:

(क) समाजशास्त्र विशेष रूप से ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में उद्योगवाद के संक्रमण से संबंधित है।

(ख) समाजशास्त्र मानवीय साधन एवं सामान्य सामाजिक संरचना की गतिशील अंत:क्रिया को एक अमूर्त समस्या के रूप में नहीं, बल्कि विश्व इतिहास के आनुभविक मुद्दे के रूप में देखता है।

(ग) समाजशास्त्र सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्तियों के जीवनवृत्तों में पाए जाने वाली स्वतंत्रता एवं प्रतिबंधों के प्रतिमानों से जुड़ा है।

ऐतिहासिक समाजशास्त्र सामाजिक घटना की संरचना की अपेक्षा विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को महत्त्व देता है। समाजशास्त्र में ऐतिहासिक उपागम प्रमुखता से सामाजिक विकास की समस्याओं से संबंधित है, विशेष रूप से औद्योगीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं, नगरीकरण, प्रजातंत्रीकरण और आधुनिकीकरण से। ऐतिहासिक उपागम को मार्क्सवादियों तथा वैबरवादियों दोनों ने अपनाया है।

भारतीय समाजशास्त्र में विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक उपागम पाए जाते हैं। जी. एस. घुर्ये और राधाकमल मुखर्जी की रचनाएं ऐतिहासिक दृष्टि से संपन्न हैं परंतु सामान्यतया इन्हें भारत विद्यात्मक या संस्कृतिशास्त्रीय माना जाता है। कई समाजशास्त्रियों के अनुसार भारतीय विद्या उपागम मूलत: संस्कृति से संबंधित हैं, न कि सामाजिक संरचना से। दूसरी ओर ऐतिहासिक उपागम सामाजिक संरचना और इसके गतिशील पक्षों पर ज़्यादा ज़ोर देता है। इसी कारण मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने अन्य उपागमों के मुकाबले इसे ज़्यादा पसंद किया है। भारतीय समाजशास्त्र में ऐतिहासिक उपागम द्वंद्वात्मक उपागम के रूप में भी जाना जाता है, परंतु ध्यान देने योग्य बात यह है कि जी. एस. घुर्ये तथा राधाकमल मुखर्जी जैसे कई समाजशास्त्रियों ने एक ही समय में एक से ज़्यादा पद्धतियों या उपागमों का प्रयोग किया है।

डी. पी. मुकर्जी ने एक विशिष्ट मार्क्सवादी विश्लेषण को भारत विद्याविदों द्वारा प्रयुक्त भारतीय परंपरा की अवधारणा के साथ समन्वित करने का प्रयास किया था। उन्होंने अपने उपागम को मार्क्सवादी न कह कर 'मार्क्सोलोजिकल उपागम' (मार्क्सवादशास्त्रीय) जैसा नया नाम दिया। उन्होंने संरचना, वर्ग संघर्ष एवं समाजवादी समाज का प्रतिरूप जैसी श्रेणियों का उपयोग भारत की ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन में किया। इस संदर्भगत ढांचे को लेकर उन्होंने कोई आनुभविक अध्ययन नहीं किया। भारतीय संस्कृति के सामान्य ऐतिहासिक विकास तथा विशेष रूप से मध्यमवर्ग के ऐतिहासिक विकास के बारे में किया गया उनका विश्लेषण आज भी लोकप्रिय है।

रामकृष्ण मुखर्जी ने द्वंद्वात्मक प्रारूप के आधार पर व्यवस्थित रूप से ऐतिहासिक तथा आनुभविक अध्ययन किए हैं। भारत वर्ष में उपनिवेशवाद के संस्थाकरण के आर्थिक और सामाजिक इतिहास के प्रति रामकृष्ण मुखर्जी की कृति 'राइज़ एंड फॉल आफ द ईस्ट इंडिया कंपनी', एक देन है। उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक नीतियों, सामंतवाद के पतन की प्रक्रिया तथा भारत में नए मध्यमवर्ग के उत्थान पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। अपनी भूमि 'द डायनेमिक्स ऑफ रूरल सोसाइटी', में उन्होंने उच्च जातियों तथा भूस्वामियों के बीच साझेदारी एवं ग्रामीण वर्ग संरचनाओं में हो रहे परिवर्तनों को समझने का प्रयास किया है। अपने अध्ययन में उन्होंने ग्रामीण बंगाल में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के बीच संबंधों की व्याख्या की है। बाद के दिनों में उन्होंने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण में परिवर्तन किया और कहा कि इतिहास तथा द्वंद्वात्मकता की प्रासंगिकता केवल अध्ययन समस्या के निर्माण तक सीमित है। इसके परीक्षण तथा पुन: परीक्षण जैसे तार्किक सिद्धांत स्वतंत्र रूप से प्रभावी हो जाते हैं। इसी कारण उन्होंने भारत में आगमनात्मक समाजशास्त्र की वकालत की।

ए. आर. देसाई भारत में एकमात्र महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्री थे, जो अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों में निरंतर द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक उपागम का प्रयोग करते रहे। राष्ट्रवाद, ग्रामीण सामाजिक संरचना, नगरीय मलिन बस्तियां, राज्य की संरचना एवं भारत में नीतियों संबंधी एवं भारतीय समाज में सामाजिक प्रक्रिया संबंधी अपने विश्लेषणों में देसाई ने भारतीय समाज के अंतर्विरोधों, गतिरोधों को व्यवस्थित रूप से दर्शाया है। देसाई के अनुसार आधुनिक भारतीय समाज और राज्य की नींव वर्ग हितों के ध्रुवीकरण पर टिकी है, जिसमें पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध खेतिहर मज़दूरों के हितों का टकराव है।

बी. एस. कोन ने पूर्वी उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जाति की परिवार संरचना तथा भारतीय सभ्यता के ऐतिहासिक आयाम का अध्ययन गैर-मार्क्सवादी ऐतिहासिक उपागम से किया है। डेनियल थॉर्नर एवं पी. सी. जोशी ने कृषक संरचना एवं भूमि सुधार का मार्क्सवादी ऐतिहासिक उपागम के आधार पर अध्ययन किया है। कैथलिन गॅफ द्वारा तमिलनाडु एवं डी. एन. धनाग्रे द्वारा भारत में किसान आंदोलन का अध्ययन भारतीय समाजशास्त्र में ऐतिहासिक उपागम के अन्य प्रमुख उदाहरण हैं।

भारतीय समाजशास्त्र में ऐतिहासिक उपागम अपेक्षाकृत कम विकसित है। यह एक एकीकृत सैद्धांतिक उपागम को प्रस्तुत नहीं करता है और आवश्यकता इस बात की है कि एक व्यवस्थित संस्थाकृत ऐतिहासिक सामाजशास्त्र की आनुभविक परंपरा स्थापित हो। परंपरा में प्रतीकात्मक व्यवस्थाओं की उपेक्षा, औपचारिकवाद, अर्थवाद आदि भारतीय समाजशास्त्र में ऐतिहासिक उपागम की मुख्य सीमाएं हैं। उपागम की शक्ति संघर्ष, अंतर्विरोध, शोषण एवं परिवर्तन के ऐतिहासिक आयामों के विश्लेषण में निहित है।

शब्दावली

भारत विद्या विज्ञान (इंडोलॉजी) - भारतीय सभ्यता की श्रेणियों, सिद्धांतों और ढांचों के माध्यम से भारतीय समाज का अध्ययन करने का एक व्यवस्थित उपागम ।

प्राच्यवाद - भारत सहित एशिया या पूर्वी सभ्यता को यूरोपीय सभ्यता के विपरीत ध्रुव के रूप में देखने वाला एक नकारात्मक दृष्टिकोण ।

संस्कृतशास्त्रीय उपागम - वह उपागम जो सामाजिक संबंधों एवं सामाजिक संगठन की तुलना में संस्कृति के अध्ययन पर बल देता है।

ऐतिहासिक उपागम - वह उपागम जो सामाजिक विकास की समकालीन संरचना की तुलना में सामाजिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया के अध्ययन पर बल देता है ।

आनुभविक दृष्टि - ऐसी दृष्टि जो सर्वेक्षण या सहभागी अवलोकन पर आधारित हो आनुभविक दृष्टि कहलाती है। समाजशास्त्र में यह संरचनात्मक उपागम का लोकप्रिय नाम है।

परंपरा - एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होने वाले मानवीय व्यवहार, विश्वास, संस्थाएं एवं शिल्प।

नृजातीय समाजशास्त्र (एथनोसोशियोलॉजी) - यह किसी संस्कृति की अपनी भाषा एवं पाठ में प्रमुख प्रतीकों, संहिताओं एवं तत्त्वों के (सहभागी) अर्थ खोजने की कोशिश करता है।

सांस्कृतिक विश्लेषण - यह विश्लेषण तथ्यों के अध्ययन की तुलना में लोगों के विचारों के अध्ययन में ज़्यादा रुचि रखता है।

अभ्यास प्रश्न

1. उपागम से आप क्या समझते हैं ? समाजशास्त्रीय उपागम के लक्षणों की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय विद्या उपागम एवं संरचनात्मक उपागम की तुलना एवं समालोचना कीजिए।
3. सामाजिक संरचना क्या है ? भारतीय समाजशास्त्र में इसका अध्ययन कैसे किया जाता है?
4. संस्कृति का क्या अर्थ है ? भारतीय समाजशास्त्र में सांस्कृतिक घटनाओं के अध्ययन पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
5. संस्कृतशास्त्रीय उपागम एवं ऐतिहासिक उपागम की तुलना एवं समालोचना कीजिए ।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त लेख लिखिए :
   (अ) एथनोसोशियोलॉजी (ब) ऐतिहासिक समाजशास्त्र
   (स) मार्क्सोलॉजिकल (द) आनुभविक दृष्टि

संदर्भ-ग्रंथ

- धनाग्रे, डी. एन., ***थीम्स एंड पर्सपैक्टिव इन इंडियन सोशियोलॉजी,*** रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1993
- कुमार, धर्म, मुखर्जी, दिलीप, (सं.), ***दिल्ली स्कूलः रिफ्लैक्शन ओन द दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1998
- मुखर्जी, रामकृष्ण, ***सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी,*** एलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979
- उम्मन, टी. के., मुखर्जी, पी. एन., (सं.), ***इंडियन सोशियोलॉजी : रिफ्लैक्शन एंड इंट्रोसपैक्शनस,*** पापुलर प्रकाशन, मुंबई, 1986
- मदन, टी. एन., ***पाथवेजः ऐप्रोचेज़ टू द स्टडी ऑफ सोसायटी इन इंडिया,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1995
- सिंह, योगेंद्र, ***इमेज ऑफ़ मैन : आईडियोलॉजी एंड थ्योरी इन इंडियन सोशियोलॉजी,*** चाणक्य पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1983